શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

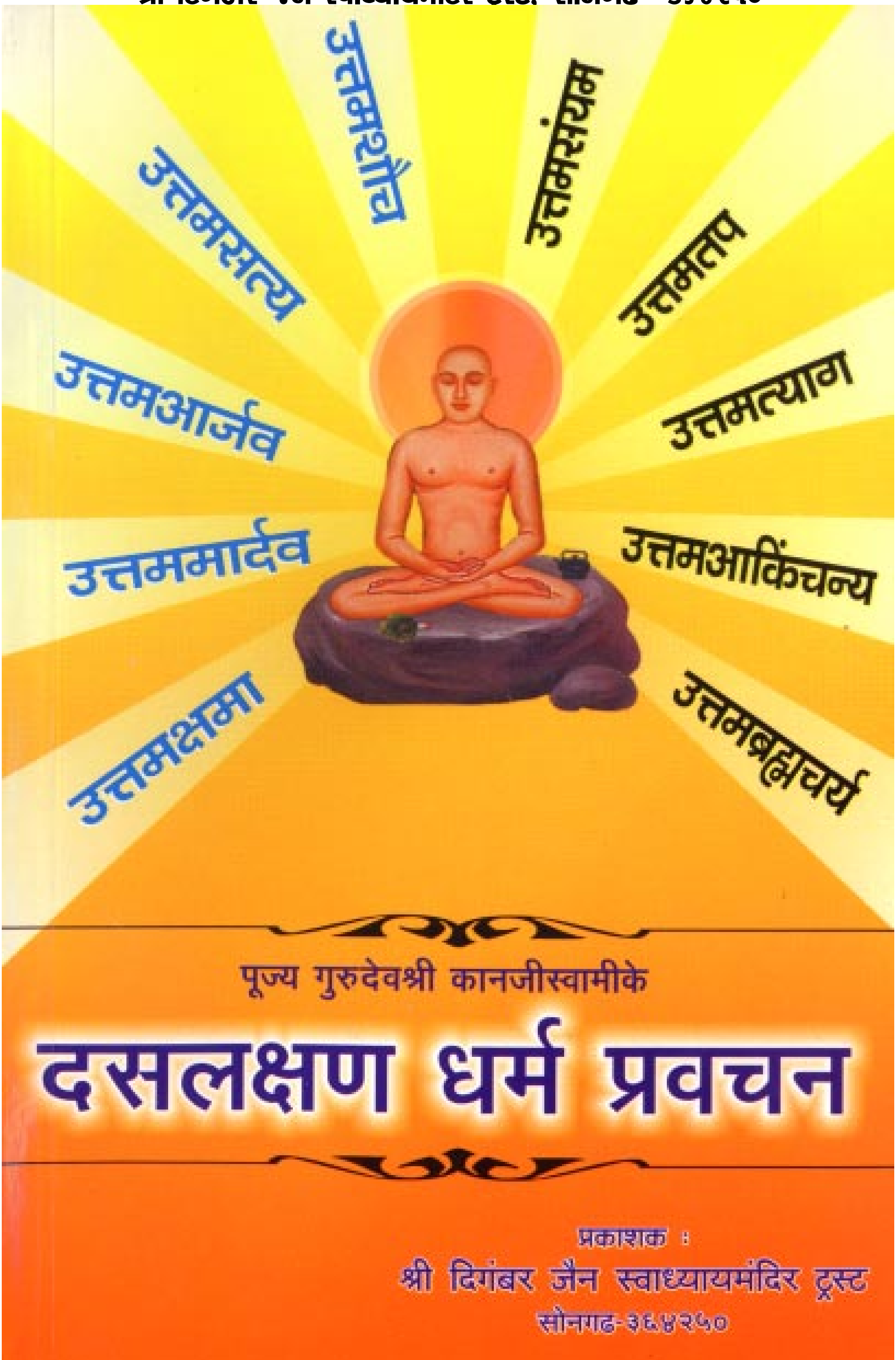

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहानजैनशास्त्रमाला पुष्प : ४२

ॐ

दसलक्षण धर्म

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिकामेंसे उत्तमक्षमादि
दस धर्मों पर सत्पुरुष पूज्य
गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके
प्रवचन

卐

: प्रकाशक :
श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति :	प्रतियाँ २०००	वीर संवत् २४८७
द्वितीयावृत्ति :	प्रतियाँ ११००	वीर संवत् २४९७
तृतीयावृत्ति :	प्रतियाँ ११००	वीर संवत् २५०४
चतुर्थावृत्ति :	प्रतियाँ १०००	वीर संवत् २५३३

दसलक्षण धर्म प्रवचन(हिन्दी)के

❋ **स्थायी प्रकाशन पुरस्कर्ता** ❋

श्री देवेन्द्रकीर्ति महिला मण्डल, शिवपुरी

[श्री सीमन्धर कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट, न्यूब्लोक शिवपुरी (म.प्र.)के अन्तर्गत]

मूल्य : रु. १०=००

: मुद्रक :

कहान मुद्रणालय

जैन विद्यार्थीगृह कम्पाउन्ड, सोनगढ–३६४२५०

✆ (02846) 244081

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सम्पादकीय

भाद्रपद शुक्ला पंचमीसे चतुर्दशी तकके दस दिनोंको ''दसलक्षण पर्व'' कहा जाता है; सनातन जैनशासनमें इसे ही पर्यूषण पर्व कहते हैं। शास्त्रोंमें तो दसलक्षण पर्व वर्षमें तीनबार आनेका वर्णन है, किन्तु वर्तमानमें भादव मासमें ही उसकी प्रसिद्धि है। इस धार्मिक पर्वकी वीतरागी जिनशासनमें अपार महिमा है।

जैनशासनका यह पवित्र पर्व अनादिकालीन है। इस पर्व संबंधी इतिहास इसप्रकार है :–प्रत्येक कालमें अवसर्पिणीकालका पंचम आरा पूर्ण होनेके पश्चात् छट्ठा आरा प्रारंभ होता हैं, और लोग अनार्यवृत्तिवाले, हिंसक एवं मांसाहारी हो जाते हैं; उसके पश्चात् उत्सर्पिणीकालके प्रारंभमें अषाढ़ वदी❀ एकमसे प्रारंभ होकर ४९ दिनमें अमुक प्रकारकी वर्षा होती है, पवन आती है और फल-फूलादि पकते हैं। वह देखकर लोगोंके मनमें आर्यबुद्धि पैदा होती है और तभीसे वे मांसाहारी इत्यादि हिंसक वृत्तियोंको छोड़कर उन फल-फूलोंसे जीवन निर्वाह करते हैं; इसप्रकार भादव सुदी पंचमीके दिन चिरकालसे चली आ रही अनार्यता और हिंसकवृत्ति पलटकर लोगोंमें आर्यता, सरलता, क्षमाभाव प्रगट होते हैं; इसीसे उस दिनसे प्रारंभ करके दस दिन तक दसलक्षण पर्व मनाया जाता है। पर्व अर्थात् मंगलकाल, पवित्र अवसर। वास्तवमें अपने आत्मस्वभावकी प्रतीतिपूर्वक जो निर्मल वीतरागी दशा प्रगट की वही यथार्थ पर्व है, वही आत्माका मंगलकाल है और वही पवित्र अवसर है। जहाँ ऐसा भावपर्व हो वहाँ बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-कालको उपचारसे पर्व कहा जाता है। यथार्थ रीतिसे तो आत्माके शुद्ध भावोंमें ही पर्व है, रागादिमें

❀ इस वर्षाका प्रारंभ श्रावण वदी एकमसे होता है, इससे जैनशासनके अनुसार उसी दिनसे नूतन वर्षाका प्रारंभ होता है।

अथवा बाह्य पदार्थमें पर्व नहीं है। इतना भेदज्ञान रखकर ही प्रत्येक कथनका अर्थ समझना चाहिए। पर्वोंका प्रयोजन आत्माके वीतरागभावकी वृद्धि करनेका है।

मुनिवरोंके चरित्रदशामें उत्तम क्षमादि दश प्रकारके धर्म होते हैं। भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक दस दिनके बीच इन दस धर्मोंकी क्रमानुसार भावना भायी जाती है, इसीसे उन दस दिनोंको 'दसलक्षण पर्व' कहा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह भादव सुदी पंचमी आदि दिन तो कालद्रव्यकी दशा है-उनमें उत्तम क्षमादि धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्मामें सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना ही उत्तम क्षमा धर्मका पर्व है और चाहे जिस समय आत्मा यह भाव प्रगट कर सकता है। तिथिके आधारसे धर्म नहीं; किन्तु आत्माके आधारसे धर्म है।

भादव सुदी ५ से १४ तकके दस दिन अनुक्रमसे १—उत्तमक्षमा, २—मार्दव (निराभिमानता), ३—आर्जव (सरलता), ४—शौच (निर्लोभता), ५—सत्य, ६—संयम, ७—तप, ८—त्याग, ९—आकिंचन्य (आकिंचनपना) और १०—ब्रह्मचर्य धर्मके दिन माने जाते हैं। और दस दिनोंके बीच दस धर्मोंके स्वरूपका वर्णन, उनके महात्म्यका चिंतवन, उनकी प्राप्तिका अभ्यास और भावना की जाती है।

परन्तु वर्तमानमें तो अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उत्तमक्षमादि धर्मोंका सत्यस्वरूप क्या है और उसे जाननेका प्रयोजन रखे बिना, मात्र रूढ़िके अनुसार दस दिनोंको मानकर अपनेको कृतकृत्य समझते हैं। परिणाम यह होता है कि वे आत्माके उत्तम क्षमादि धर्मोंका स्वरूप न जाननेसे उस धर्मकी सच्ची उपासना नहीं कर पाते और आत्मकल्याणसे तो वे वंचित ही रहते हैं। जो आत्माका स्वरूप समझकर अपनेमें उत्तमक्षमादि धर्मकी आराधना प्रगट करे–उसने ही यथार्थ रीतिसे दसलक्षण पर्वको मनाया–ऐसा कहा जाये।

वीर संवत् २४७३ के दसलक्षण पर्वके दिनोंमें सोनगढमें पूज्य श्री कानजीस्वामीने पद्मनन्दि आचार्यदेव रचित श्रीपद्मनन्दि-पंचविंशतिकामेंसे

उत्तमक्षमादि दस धर्मोंके व्याख्यान करके उन धर्मोंका यथार्थ स्वरूप अपूर्व रीतिसे समझाया है, वे व्याख्यान इस पुस्तकके रूपमें दूसरी बार प्रकाशित किये गये हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका महान सूत्र है कि–'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्मका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है उसके अनुसार इन उत्तमक्षमादि दस धर्मोंका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है—यह बात इन प्रवचनोंमें यथार्थ रीतिसे समझाई गई है; तथा यह उत्तमक्षमादि दस धर्म मुख्यतः मुनियोंके धर्म हैं; किन्तु गृहस्थ-श्रावकोंके भी सम्यग्दर्शनपूर्वक वे उत्तमक्षमादि धर्म किसप्रकार हो सकते हैं—वह भी इसमें बतलाया है। यह प्रवचनोंका संकलन ब्र. श्री हरिलाल जैन द्वारा द्वारा किया गया है।

आत्मार्थी जीव! इस प्रवचनों द्वारा उत्तम क्षमादि दसधर्मोंका यथार्थ स्वरूप समझकर अपने आत्मामें उनकी आराधना प्रगट करो!

श्रावण कृष्णा १
वीर सं० २४८७

रामजी माणेकचंद दोशी प्रमुख—
श्री दि0 जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

चतुर्थ आवृत्तिके अवसर पर...

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके ''दसलक्षण धर्म'' पर हुए प्रवचनोंकी तत्त्व जिज्ञासुओंकी ओरसे सतत मांग रहनेके कारण यह चतुर्थ आवृत्ती प्रकाशित करते हमें हर्ष हो रहा है। यह प्रवचनोंका गुजरातीमेंसे हिन्दी अनुवाद श्री मगनलालजी जैन द्वारा किया गया है।

आशा है कि मुमुक्षुगण इन प्रवचनोंसे लाभान्वित होकर अपने निजकल्याणको साधे।

श्रावण कृष्णा २
वीर सं० २५३३

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दि. जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

સહજ સિદ્ધાંત.

* अनुक्रमणिका *

	विषय	पृष्ठ
*	दस धर्म	९
*	दंसण मूलो धम्मो	१२
१	उत्तम क्षमा धर्म	१४
२	उत्तम मार्दव धर्म	२८
३	उत्तम आर्जव धर्म	३६
४	उत्तम सत्य धर्म	४१
५	उत्तम शौच धर्म	४७
६	उत्तम संयम धर्म	५१
७	उत्तम तप धर्म	५७
८	उत्तम त्याग धर्म	६२
९	उत्तम आकिंचन्य धर्म	७०
१०	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म	७५
११	धर्मका स्वरूप	८४

❁

अमृत-पान करो !

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–हे भव्य जीवो ! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुखका भण्डार है, सर्व कल्याणका बीज है और संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये जहाज है; एकमात्र भव्य जीव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये यह कुल्हाड़ीके समान है, पवित्र तीर्थोंमें यही एक प्रथम तीर्थ है, और मिथ्यात्वका नाशक है।

(ज्ञानार्णव अ० ६ गा०–५६)

दस धर्म

''उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम-
तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।''

अर्थ :—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य यह दस प्रकारके धर्म हैं।

(श्री तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ६)

इस सूत्रमें बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दस धर्मोंको लागू होता है। यह गुणवाचक शब्द है। उत्तमक्षमादि कहनेसे यहाँ पर रागरूप क्षमाको नहीं लेना चाहिए, किन्तु स्वरूपके भानसहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना चाहिए। उत्तमक्षमादि गुण प्रगट होने पर क्रोधादि कषायोंका अभाव होता है, इससे आस्रवकी निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि न करना सो धर्म है; किन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उनका क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो दूर हुआ ही नहीं। जैसे कोई मनुष्य राजा आदिके भयसे अथवा साधुताके लोभसे पर-स्त्री सेवन नहीं करता तो इससे उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार उपर्युक्त मान्यतावाले जीव भी क्रोधादिकके त्यागी नहीं हैं, उनको धर्म नहीं होता।

प्रश्न :–फिर क्रोधादिका त्याग किस प्रकार होगा।

उत्तर :–पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होनेसे क्रोधादि होते हैं। तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जब कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्टरूप भासित न हो उस समय क्रोधादि स्वतः उत्पन्न ही नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

क्षमादि धर्मोंकी सामान्य व्याख्या

(१) **क्षमा** :–निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मार, शरीरका घात इत्यादि होने पर अथवा उन प्रसंगों को निकट आता देखकर भावोंमें मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) **मार्दव** :–जाति इत्यादि आठ प्रकारके मदके आवेशसे होनेवाले अभिमानका अभाव सो मार्दव है, अथवा परद्रव्यका मैं कर सकता हूं—ऐसी मान्यतारूप अहंकारभावको जड़मूलसे उखाड़ फेंकना सो मार्दव है।

(३) **आर्जव** :—माया-कपटसे रहित सरलता, सो आर्जव है।

(४) **शौच** :–उत्कृष्टतापूर्वक लोभसे विराम लेना-निवृत्त होना सो शौच अर्थात् पवित्रता है।

(५) **सत्य** :–सत् जीवोंमें-प्रसंशनीय जीवोंमें साधुवचन (सरल वचन) बोलनेका भाव सो सत्य है।

(६) **संयम** :–समितिमें परिवर्तन करनेवाले मुनि द्वारा प्राणियोंको दुःखी करनेका त्याग सो संयम है।

(७) **तप** :–भावकर्मका नाश करनेके लिए अपनी शुद्धताका प्रतपन सो तप है।

(८) **त्याग** :–संयमी जीवोंको योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) **आकिंचन्य** :–विद्यमान शरीरमें भी संस्कारके त्यागके लिए 'यह मेरा है'–ऐसे अनुरागकी निवृत्ति सो आकिंचन्य है। आत्मस्वरूपसे भिन्न शरीरादिमें अथवा रागादिमें ममत्वरूप परिणामोंका अभाव सो आकिंचन्य है।

(१०) **ब्रह्मचर्य** :–स्त्रीमात्रका त्याग करके अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहना

सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमें भोगे हुए स्त्रियोंके भोगका स्मरण और उसकी कथा सुननेके त्यागसे एवं स्त्रियोंके पास बैठना छोड़ देनेसे तथा स्वच्छन्द प्रवर्तन रोकनेके लिए गुरुकुलमें रहनेसे ब्रह्मचर्यका पालन पूर्णरूपसे होता है।

इन दस बोलोंमें 'उत्तम' शब्द लगानेसे उत्तम क्षमा इत्यादि दस धर्म होते हैं। उत्तम कहनेसे सम्यक्दर्शन सहित समझना चाहिए। सम्यग्दर्शनके बिना उत्तम क्षमादि धर्म नहीं होते। अर्थात् इन उत्तम क्षमादि दस धर्मोंको शुभरागरूप नहीं समझना; किन्तु कषायरहित शुद्धभावरूप जानना चाहिए।

(मोक्षशास्त्र-गुजराती टीका)

दंसण मूलो धम्मो

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव दर्शनप्राभृतकी दूसरी गाथामें कहते हैं कि—सर्वज्ञ भगवानने गणधरादिक शिष्योंको जिस धर्मका उपदेश दिया है, उस धर्मका मूल सम्यक्‌दर्शन है।

श्री सर्वज्ञदेवकी परम्परासे जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्मकी प्ररूपणा चार प्रकारसे है; उन चार प्रकारोंमें सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल है। वे चार प्रकार नियमानुसार हैं :—

(१) **वस्तुस्वभाव सो धर्म** :–आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय चेतना है, वह चेतना शुद्धतारूपमें परिणमित हो अर्थात् स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूपसे परिणमित हो वह धर्म है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध चेतनास्वरूप वस्तु है और विकार क्षणिक है, ऐसे भेदज्ञानपूर्वक आत्मस्वभावकी प्रतीति और उसका अनुभव सो सम्यग्दर्शन है और वही वस्तुस्वभावका मूल है।

(२) **दसलक्षणरूप धर्म** :–सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मस्वभावकी श्रद्धा करके उसका ज्ञान और स्थिरता प्रगट करके आत्माको कषायभावोंसे बचा लेना ही उत्तम क्षमादि धर्म हैं। वे उत्तम क्षमादि धर्म सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते। सम्यग्दर्शनके बिना द्रव्यलिंगी मुनि हो जाए और कोई जला डाले तथापि क्रोध न करे, सिंह खा जाए तो भी न बोले तथा शुभपरिणाम रखे, तो भी उसके 'उत्तम क्षमा नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह सम्यग्दर्शनरहित जीव ऐसा मानता है कि मैंने इतना सब सह लिया और शुभ परिणाम रखे हैं, इससे अब मुझे धर्म होगा। जिसने शुभ भावोंको अच्छा माना और उनसे आत्माको लाभ माना, उस जीवको शुभाशुभरहित शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर क्रोध (अरुचि)

है, उसे अन्तानुबन्धी क्रोध कहते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शन ही उत्तम क्षमादि दस धर्मोंका मूल है।

(३) **रत्नत्रयरूप धर्म** :– अपने शुद्धस्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सो रत्नत्रय धर्म है। उसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

(४) **जीवरक्षारूप धर्म** :–आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, उसकी मिथ्यात्व और पुण्य-पापके विकारीभावोंसे रक्षा करना अर्थात् पुण्य-पापके विकारीभावोंको आत्माका स्वभाव न मानना, किन्तु पुण्य-पापसे भिन्न शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वभावको श्रद्धामें, ज्ञानमें और स्थिरतामें स्थिर रखना ही सच्ची जीवरक्षा है। मैं परजीवको बचा सकता हूँ—ऐसा मानना तथा पुण्य-पापके परिणामों द्वारा आत्माको लाभ मानना सो ही स्व-जीवकी हिंसा है। परजीवकी रक्षा या हिंसा कोई कर नहीं सकता; क्योंकि परजीवका जीना या मरना इस जीवके आधीन नहीं है। सम्यग्दर्शन द्वारा अपने शुद्धस्वभावको जानकर उसे जितने अंशमें विकारसे बचा ले उतने ही अंशमें जीवरक्षारूप धर्म है। इसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

इसप्रकार सर्वज्ञदेवके कहे हुए आत्माके समस्त धर्मोंका मूल सम्यग्दर्शन है। जैसे जड़के बिना वृक्ष नहीं उगता, और नींवके बिना मकान नहीं बनता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके बिना किसी भी प्रकारका धर्म नहीं होता।

दसलक्षण धर्म

१-उत्तमक्षमा धर्म

(भाद्रपद शुक्ल ५)

आजसे दसलक्षणपर्व प्रारम्भ होता है। सबसे पहला दिन उत्तमक्षमाका है। चारित्रदशामें प्रवर्तमान मुनियोंके उत्तमक्षमादि दस प्रकारके धर्म होते हैं। इन उत्तमक्षमादि धर्मोंसे ही चारित्रदशा होती है, वह चारित्र मोक्षका कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्रके कारण हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको मोक्षमार्ग कहना सो उपचार है, क्योंकि जिनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए हों उनके अवश्य ही अल्पकालमें सम्यक्‌चारित्र प्रगट होता है, इससे सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षमार्ग कह दिया है; किंतु मोक्षके लिए साक्षात् कारण तो वीतरागी चारित्रदशा है। उस चारित्रदशाके उत्तमक्षमादि दस प्रकार हैं। इन उत्तमक्षमादि दस धर्मोंकी आराधनाका पर्व आजसे प्रारम्भ होता है। 'दसलक्षणपर्व' का अर्थ है 'मोक्षकी आराधनाका महोत्सव।'

उत्तमक्षमाकी व्याख्या

आजका दिन 'उत्तमक्षमा' का माना जाता है। सम्यग्दर्शनके बिना उत्तमक्षमा होती ही नहीं। लोकरीतिमें शुभभावको क्षमा कहते हैं, उसका निषेध करनेके लिए यहाँ उत्तमक्षमा—ऐसा कहा है। उत्तमक्षमाका अर्थ है सम्यग्दर्शनसहित वीतरागभावरूप क्षमा।

निश्चयसे अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उसकी प्रतीति एवं बहुमान करना तथा राग-द्वेष क्रोधादिकी रुचिको छोड़ना ही उत्तमक्षमाकी यथार्थ आराधना है। आत्मस्वभावका अनादर करके पुण्य-पापकी रुचि करना सो क्रोध है, और आत्मस्वभावके आदर द्वारा पुण्य-

पापकी रुचिको छोड़ देना ही उत्तमक्षमा है।

पर्व किसका ?

दस दिनोंको पर्व कहना तो उपचार है, आत्मस्वभावकी प्रतीतिपूर्वक चारित्रधर्मकी दस प्रकारसे आराधना करना ही साधक जीवका सच्चा पर्व है, पर्व अर्थात् आराधना। उस आराधनाका आरोप करके अमुक दिनको 'पर्व' कहना सो व्यवहार है। किन्तु जो आत्मा अपनेमें आराधकभाव प्रगट करे उसके लिए व्यवहारसे दिनको पर्व कहा जाता है। किन्तु जिसे आत्माका भान नहीं है उसके अपनेमें ही पर्व नहीं है, तब फिर दिनमें भी किसका उपचार करना ?

'उत्तमक्षमा' कब होती है ?

आत्माकी पर्यायमें जो पुण्य-पाप होते हैं, उनकी रुचि होती है–वही अनन्त क्रोध है। ज्ञायकस्वभावकी रुचिके द्वारा उस क्रोधका नाश करना ही उत्तमक्षमारूप चारित्रदशा प्रगट होनेका बीज है। और स्वभावकी रुचिके पश्चात् विशेष स्थिरता द्वारा वीतरागभाव प्रगट करके पुण्य–पापका नाश करना सो उत्तमक्षमा है। ऐसी क्षमा मुनिदशामें होती है। आज उस उत्तमक्षमाकी आराधनाका दिन है। उत्तमक्षमाकी आराधना मुनियोंको तो सदैव रहती है। वह आराधना तो जीव जब चाहे उसी समय कर सकता है, किन्तु आज विशेषरूपसे उसका स्मरण करके साधक जीव उसकी भावना करते हैं।

उत्तमक्षमा धर्मका स्वरूप

आज मांगलिकरूपसे श्री पद्मनन्दि आचार्यकृत 'पद्मनन्दि-पंचविंशतिकामेंसे उत्तमक्षमाके स्वरूपका प्रवचन होता है :–

(मालिनी)

जड़जनकृत बाधा क्रोध हास प्रीयादृव–
अपि सति न विकार यन्मनो याति साधोः।

अमल विपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथ पथिकानां सत्सहायत्वमेति।।८२।।

(पद्मनन्दि पृष्ठ–४२)

मूर्ख–अज्ञानीजनोंके द्वारा वध, बन्धन, क्रोध, हास्य आदि किए जाये, तथापि साधु अपने निर्मल और गंभीर चित्तसे विकृत नहीं होते, वही उत्तमक्षमा है; ऐसी उत्तमक्षमा मोक्षमार्गके पथिक सन्तोंको यथार्थतया सहायता करनेवाली है।

उत्तमक्षमा किसके होती है?

उत्तमक्षमादि जो दस धर्म हैं उनमें मुख्यतया तो चारित्रका ही आराधन है, अर्थात् उस दस धर्मोंका पालन मुख्यतः मुनिदशामें ही होता है, श्रावकके गौणरूपसे अपनी-अपनी भूमिकाके अनुसार अंशतः होता है। मोक्षमार्ग ही दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप है, वह चारित्र दशामें ही होता है; सम्यग्दृष्टि जीवोंके नियमसे चारित्र प्रगट होता ही है, इससे चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें भी उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है। उत्तमक्षमा अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित क्षमा। उत्तमक्षमा मिथ्यादृष्टिके नहीं होती।

उत्तमक्षमाके अतिरिक्त अन्य चार क्षमाएँ

क्षमाके पाँच प्रकार हैं, उनमेंसे चार तो पुण्यबंधके कारणरूप हैं और पाँचवेंको 'उत्तमक्षमा' कहा जाता है, वह धर्म है।

(१) 'यदि मैं क्रोध करूँगा तो मुझे हानि होगी, यदि मैं इस समय सहन नहीं करूँगा तो भविष्यमें मुझे अधिक हानि होगी'—ऐसे भावसे क्षमा करे तो वह रागरूप क्षमा है। जिसप्रकार निर्बल मनुष्य बलवानका विरोध नहीं करता वैसे ही—'यदि मैं क्षमा करूँ तो मुझे कोई हैरान नहीं करेगा'—ऐसे भावसे क्षमा रखना सो बन्धका ही कारण है। क्योंकि उसमें क्रोधादि करनेकी भावना दूर नहीं हुई। मेरा स्वरूप ही किसी प्रसंग पर क्रोध करनेका नहीं है, मैं तो ज्ञान ही करनेवाला हूँ'—ऐसी प्रतीतिके बिना कभी भी

क्षमाधर्म नहीं होता; किन्तु शुभरागरूप क्षमा होती है, वह बन्धका कारण है, किन्तु धर्म नहीं है।

(२) 'यदि मैं क्षमा करूँ तो दूसरेकी ओरसे मुझे लाभ हो,—ऐसे भावसे मालिक आदिकी बातें (फटकार) सहन करे और क्रोध न करे तो वह भी वास्तविक क्षमा नहीं है।

(३) 'यदि मैं क्षमा नहीं करूँगा तो कर्मबन्ध होगा और नरकादि दुर्गतिमें जाना पड़ेगा, इसलिए मैं क्षमा कर दूँ तो कर्मबन्ध हट जाए,— ऐसे भावसे क्षमा करे तो वह सच्ची क्षमा नहीं है, वह क्षमा बन्धका कारण है।

(४) क्रोधादि न करनेकी वीतरागकी आज्ञा है और शास्त्रोंमें भी वैसा कहा है, इसलिए मुझे क्षमा करना चाहिए, जिससे मुझे पापबन्ध न हो —ऐसे भावोंसे क्षमा धारण करना वह भी पराधीन क्षमा है राग है, उससे धर्म नहीं होता।

उत्तमक्षमा धर्म

उपरोक्त चार प्रकारकी क्षमा बन्धका कारण है, उन चारोंमें कहीं भी स्व-आत्माका लक्ष्य नहीं आया, किन्तु परलक्ष्यसे ही रागको अल्प करके क्षमा धारण की है, वह सहज क्षमा नहीं है। उत्तमक्षमा तो सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूपको भूलकर पुण्य-पापकी रुचि करना सो महान क्रोध है, और आत्माके त्रैकालिक स्वरूपकी रुचिके द्वारा शुभाशुभकी रुचिको छोड़ देनेसे वीतरागी क्षमाभाव प्रगट होता है। मुनिदशामें शरीरको सिंह–बाघ खाये जा रहा हो, फिर भी उस ओरकी कोई वृत्ति ही न उठे, अशुभवृत्ति तो न ही उठे, किन्तु शुभवृत्ति भी न उठे–ऐसी जो आत्माकी उत्कट आनन्दमय वीतरागीदशा है, वही उत्तमक्षमा है, और वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं, किन्तु आनन्द है। आज उस उत्तमक्षमा धर्मका दिन है। इससे श्री पद्मनन्दि आचार्यने उत्तमक्षमाका जो वर्णन किया है उसका प्रवचन हो रहा है।

साधककी सहचरी उत्तमक्षमा

इस गाथामें अज्ञानी जीवोंको 'जड़-जन, कहा है। जिन्हें चैतन्यस्वरूप आत्माकी खबर नहीं है और रागादिको ही आत्मा मानते हैं, उन्हें परमार्थसे 'जड' कहते हैं। ऐसे अज्ञानियोंके कठोर वचन ज्ञानीजन स्वाभावाश्रित रहकर सहन करते हैं—वह उत्तमक्षमा है। साधुजन चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों पर भी अपने धीर-वीर स्वभावसे च्युत नहीं होते। आत्मस्वभावकी अरुचि जिसका लक्षण है—ऐसे क्रोधका त्याग करके जिन्होंने साधकदशा प्रकट की है और तत्पश्चात् स्थिरताके विशेष पुरुषार्थ द्वारा धीर होकर ज्ञानस्वरूपमें लीन हो गये हैं, ऐसे सन्तोंको बाह्यमें कौन प्रतिकूल है अथवा कौन अनुकूल है उससे प्रयोजन नहीं होता, किन्तु अपने पुरुषार्थको स्वभावमें उतारकर जो समभावरूप परिणमन करते हैं, उनके उत्तमक्षमा है। मोक्षमार्गमें विचरनेवाले साधुओं को वह उत्तमक्षमा सर्वप्रथम सहायक है।

आत्माको मोक्षमार्गमें जानेके लिए कोई पर-पदार्थ सहायक नहीं है, किन्तु उत्तमक्षमारूप अपनी निर्मल पर्याय ही अपनेको सहायक है—ऐसा कहकर आचार्यदेवने मंगलाचरण किया है।

ज्ञानीकी क्षमा मोक्षका और अज्ञानीकी क्षमा संसारका कारण है

जिनहोंने अपने चैतन्यस्वरूपके भान द्वारा पुण्य-पाप दोनोंको समान माना है और जिनके ज्ञायकदशा प्रकट हुई है, ऐसे मुनिका चित्त-धीर-वीर होता है। परिणतिमें अनन्त धैर्य प्रगट हुआ है इससे मनमें क्षोभ नहीं होता और पुरुषार्थमें वीरता है, इसलिए वह स्वभावमें स्थिर रहनेका कार्य करती है। बाह्यमें यदि कोई निन्दा करे तो किसकी ? और यदि स्तुति करे तो किसकी ? बन्धन करे तो किसे ? और यदि सेवा करे तो किसकी ? यह शरीर तो मैं नहीं हूँ और मेरे आत्माको कोई बन्धनादिके द्वारा हानि नहीं पहुँचा सकता, ऐसा भान तो सम्यग्दृष्टिके होता है, परन्तु उसके पश्चात् विशेष पुरुषार्थके द्वारा चारित्रदशा प्रगट होने पर विकल्प

भी न उठे और सहजक्षमा प्रगट हो वह उत्तमक्षमा धर्म है। किन्तु कोई जीव मुझे लकड़ी मारे और मैं सहन करूँ–ऐसा मानकर जो क्षमा रखता है, वह धर्म नहीं है। प्रथम तो लकड़ी शरीरको लगती है, तथापि 'मुझे लकड़ी लगी' ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। कठिनसे कठिन लाठी मार सहन करे और बन्दूककी गोलियाँ नंगे शरीर पर बरसें उन्हें भी सहन करे तथापि ऐसा माने कि 'मैंने बहुत सहन किया है, इससे दूसरोंका हित होगा, दूसरोंके हितके लिए मैं क्षमा करता हूँ–' तो ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसके किंचित् भी धर्म नहीं है, परमार्थतः तो उसके स्वरूपको अरुचिरूप महानक्रोध विद्यमान है। ऐसे जीवोंकी रागरूप क्षमा कभी भी मोक्षकी सहायक नहीं है, किन्तु वह तो संसारका ही कारण है। और ऊपर जो वीतरागी उत्तमक्षमा बतलाई है वही मोक्षकी सहायक है, उस उत्तमक्षमारूप चारित्रके द्वारा मुनिजन सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। जिनके सम्यग्दर्शन होता है उन्हें चारित्रदशा प्रगट करनेके लिए अनन्तपुरुषार्थ करना शेष है। चारित्र है वह धर्म है; धर्म वीतरागतारूप है। सम्यक् आत्मभानपूर्वक स्वभावके सेवन द्वारा वीतरागता प्रगट करना सो आराधना है, और वह मोक्षमार्ग है।

प्रथम पहिचान पश्चात् भावना

ऐसा उत्तमक्षमा धर्म प्रगट करनेके लिए प्रथम तो उपयोगस्वरूप आत्माको क्रोधादिसे भिन्न जानना चाहिए। इस पहिचानके पश्चात् ही उत्तमक्षमादि यथार्थ भावनाएँ हो सकती हैं।८२।

शुभाशुभ रागादिकमें कर्तापनेकी रुचि ही अपने त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावकी अरुचिरूप अनंतानुबंधी क्रोध है–आस्रव है। चैतन्य स्वरूप आत्माकी रुचि प्रगट करके शुभाशुभ भावोंकी रुचि छोड़ देनेसे स्वसन्मुखतानुसार वीतरागीभाव प्रगट होते हैं, वह उत्तमक्षमा है। और यह उत्तमक्षमा साधक जीवोंको मोक्षमार्गमें सहचरी है,—यह बात प्रथम श्लोकमें बतलाई है। अब, उत्तमक्षमा धर्मसे विरुद्ध ऐसा जो क्रोधभाव है वह मुनीश्वरोंको दूरहीसे त्याग देना चाहिए-ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं :—

[वसन्ततिलका]

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र गुणौघशाखा
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा।
यातिक्षयं क्षणतः एव घनोग्रकोप
दावानलात् त्यजत् तं यतयोऽत्र दूरम्।।८३।।

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त मुनिवर पवित्र वृक्षके समान हैं, और उत्तमक्षमादि गुण उसकी शाखाएं, पत्र और फूलों के समान हैं। अल्पकालमें ही इस वृक्ष पर मोक्षरूपी फल आनेवाले हैं। किन्तु यदि क्रोधरूपी दावानल उसमें प्रवेश कर जाये तो वह मुनिदशारूपी वृक्ष कुछ भी फल दिए बिना बात ही बातमें नष्ट हो जाता है, इसलिए हे मुनिवरो! क्रोधादिको दूरसे ही त्याग दो।

मुनिराज वृक्ष समान हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसकी शाखाएँ हैं, एवं मोक्षदशा उसका फल है। उत्तमक्षमादि दश धर्म सम्यक्चारित्रके ही भेद हैं। सम्यक्चारित्ररूपी वृक्षके बिना मोक्षरूपी फल नहीं आता। यदि उस यतिरूपी वृक्षमें क्रोधरूपी अग्नि लग जाए तो वह वृक्ष नष्ट हो जाता है और मोक्षफल नहीं आता। मुनिदशा मोक्षकी निकटतम साधक है। मुनि तो मोक्षफल आनेकी तैयारीवाला फूला हुआ वृक्ष है, उत्तमक्षमा द्वारा मुनिवर अल्पकालमें ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानसहित क्षमासे च्युत होकर क्रोध करे तो उस क्रोधरूपी अग्नि द्वारा यतिरूपी वृक्ष जल जाता है। इसलिए क्रोध दूरसे ही त्याग कर देने योग्य है, अर्थात् क्रोध होने ही नहीं देना।

यहाँ पर मुख्यतया मुनियोंके लक्ष्यसे कथन है, श्रावक-गृहस्थ गौणरूप है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी अंशतः उत्तमक्षमा धर्म होता है। विकार होते हुए भी उससे रहित मेरा स्वरूप(स्वभाव) है–ऐसी प्रतीतिपूर्वक स्वभावका आदर है और विकारका आदर नहीं है, इससे उनके उत्तमक्षमा है। स्वभावको विकारयुक्त मानकर विकारका आदर करना और विकार-रहित ज्ञानस्वभावका अनादर करना-यही क्रोध है।

सम्यक्‌दर्शन पूर्वक विशेष स्वरूपस्थिरता करके जो मुनि हुए हैं, उन्हें अपने चारित्रस्वभावमें क्रोध को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। अनन्तानुबंधी इत्यादि तीन प्रकारके कषायको तो नष्ट कर ही दिया है और उतनी उत्तमक्षमा प्रगट हो ही गई है, किन्तु अभी संज्वलन कषाय है उससे आत्माके गुणकी पर्याय जलती है। जो तीन कषाय दूर कर दिये हैं उन्हें तो आने ही नही देना चाहिए, और जो अत्यन्त मन्द कषाय रह गये हैं उन्हें भी नष्ट करके सम्पूर्ण वीतरागता करना चाहिए। यहाँ पर किसी अन्यके पाससे क्षमा नहीं मांगता है। 'भाई ! आप मुझे क्षमा करना' ऐसा शुभ परिणाम सो उत्तमक्षमा नहीं है। दूसरे के पास से क्षमा मांगे, किन्तु दूसरा क्षमा न दे, तो क्या यह जीव स्वतः क्षमाभाव नहीं कर सकता ? वास्तविक क्षमा तो स्वतः अपने आत्माको देता है। पहले आत्माको रागयुक्त विकारयुक्त मानकर आत्मस्वभाव पर क्रोध किया, उस दोषकी आत्मा इसप्रकार क्षमा मांगता है कि हे आत्मा ! तुझे क्षमा हो। अब मैं तुझे क्षमा देता हूँ। तेरे अखण्ड ज्ञानस्वभावमें एक विकल्प भी न होने दूँगा। हे आत्मा ! क्षमा हो तेरे परमात्मस्वभावको। अब मैं तेरे आदरको छोड़कर एक विकल्पमात्रका आदर नहीं करूंगा। इसप्रकार स्वतः अपने स्वरूपको जानकर अखण्डानन्दरूपसे स्थिर रखनेकी भावना करते हैं। उसमें जितना राग दूर होकर वीतराग भाव प्रगट हुआ उतनी ही उत्तमक्षमा है, वह धर्म है और उसका फल मोक्ष है।

उत्तमक्षमाका पालन करनेमें श्री अरिहन्त समर्थ हैं। साधकदशामें उन्होंने ऐसी उत्तमक्षमा ग्रहण की कि विकल्पको भी छोड़कर वीतरागभाव धारण करके केवलज्ञान प्रगट किया। श्री पार्श्वनाथ भगवान मुनिदशामें थे और वे ध्यानमें बैठे थे उस समय कमठने आकर घोर उपसर्ग किया, परन्तु उन्होंने तो आत्मस्वरूपकी एकाग्रतारूप उत्तम क्षमा धारण करके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट किया। उपसर्ग करनेवाले कमठके ऊपर द्वेषका विकल्प नहीं उठा और सेवा करनेवाले इन्द्रके ऊपर रागका विकल्प नहीं है। एकरूप स्वभावमें लीनता होनेपर सम्पूर्ण वीतरागभाव प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। ऐसा वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा है। आत्मस्वरूपको समझकर उसका

बहुमान करना ही उत्तमक्षमाकी आराधनाका यथार्थ पर्व है। मेरा ज्ञानस्वभाव अन्तरंगमें सहज क्षमास्वरूप है, क्रोधकी वृत्ति मुझमें है ही नहीं–ऐसे अपने स्वभावके और क्रोधके भेदज्ञानपूर्वक स्वभावकी एकाग्रता सो सहजक्षमा है, और वही धर्म है। ऐसा क्षमाभाव जो आत्मा अपनेमें प्रगट करता है, वही पर्वकी यथार्थ आराधना करनेवाला है।

उत्तमक्षमाको धारण करनेवाले धर्मात्मा कैसी भावना करते हैं, वह अब बतलाते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तिष्ठामो वयमुज्वलेन मनसा रागादि दोषोज्झिता
लोकः किंचदपि स्वकीयहृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा
मित्रैणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते।।८४।।

धर्मात्मा जीव उत्तमक्षमा धर्मका चिन्तवन करते हुए ऐसी भावना करते हैं कि–यह स्वेच्छाचारी लोक अपने हृदयोंमें मुझे भला अथवा बुरा–जो चाहे माने, किन्तु मैं तो राग-द्वेषरहित होकर अपने उज्ज्वल ज्ञानमें ही स्थित रहूँगा। उत्तमक्षमाके धारक पुरुषोंको मात्र अपने आत्माकी शुद्धि ही साध्य है। इस जगतमें अन्य मेरा बैरी हो अथवा मित्र हो–इससे मुझे क्या ? बैरी या मित्र मेरा तो कुछ भी नहीं कर सकते। जो द्वेषरूप या प्रीतिरूप परिणाम करेगा उसे स्वयं ही उसका फल मिल जायेगा।

धर्मात्मा भावना करता है कि–मेरे स्वभावमें राग-द्वेष नहीं है। मित्रके ऊपर राग अथवा शत्रुके ऊपर द्वेष करना हमारे हृदयमें नहीं है। वास्तवमें तो इस संसारमें कोई किसीका शत्रु या मित्र है ही नहीं। यह स्वेच्छाचारी लोक हमें भला कहे या बुरा, उसमें हमें क्या ? कोई भी बैरी हमारे आत्माको हानि पहुँचानेमें समर्थ नहीं है, एवं कोई भक्त मेरे आत्माको लाभ नहीं करते। भक्तजन यदि भक्ति करते हैं तो अपने शुभरागके कारण, और यदि बैरी निन्दा करते हैं तो वे अपने द्वेषपरिणामको लेकर करते हैं। मैं तो दोनोंको

जानने वाला हूँ, मेरे ज्ञानमें तो दोनों ज्ञेयरूप हैं। ऐसे अपने ज्ञानस्वभावकी भावनाके बलसे ज्ञानी सन्तोंके राग-द्वेषरहित क्षमाभाव होता है, वही उत्तमक्षमा धर्म है। जिसने अपने ज्ञानस्वभावकी भावना न की हो तो उस जीवके कदाचित् बाह्यमें शुभपरिणाम दिखलाई देते हों, किन्तु वह शुभरागको आत्माका स्वरूप मानकर उस ज्ञानस्वभावके अनादररूप अनन्त क्रोधस्वभावका सेवन करते हैं। सम्यग्दर्शनसहित जो क्षमा है वही उत्तमक्षमा है और वही धर्म है।

उत्तमक्षमा धर्मको धारण करनेवाला धर्मात्मा कैसा चिंतवन करता है, वह अब विशेषरूपसे बतलाते हैं :—

(स्रग्धरा)

दोषानाधुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
मधस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगज्ज्ञायतां सौख्यराशि-
र्मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि॥८५॥

मेरे दोषोंको सबके समक्ष प्रगट करके संसारमें दुर्जन सुखी हो, धनके लोलुपी मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी हो जाओ, शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी हो और जिसे मेरा स्थान लेना है वह स्थान लेकर सुखपूर्वक रहे, तथा जो राग-द्वेषरहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें वे मध्यस्थ रहकर सुखी रहें, इसप्रकार समस्त जगत् सुखपूर्वक रहे, किन्तु किसी भी संसारी जीवको मुझसे दुःख न पहुँचे, मैं ऐसी पुकार सबके समक्ष करता हूँ।

इसमें समस्त संसारके जीवोंसे निरपेक्ष होकर, अपने आत्मामें वीतरागभावसे रहनेकी भावना है। मेरे ज्ञानमें राग-द्वेष करनेका स्वभाव ही नहीं है। स्वतः अपने आत्माकी आराधना उग्रता करते हुए मुनि पुकार करते हैं कि—इस जगतके जीव जिसमें उन्हें सुख मिले वैसा ही वर्त, किन्तु मैं अपने ज्ञाताभावरूप क्षमाको नहीं छोडूँगा। कोई मेरे दोष बतलाकर, या पिछी-कमण्डल लेकर, अथवा स्थान लेकर, भले ही सुखी माने और अन्य कोई

वीतरागभावरूप रहकर सुखी हो, किन्तु मुझे दोनों पर समभाव है। सम्यग्ज्ञान द्वारा समस्त जगत् सुखी रहे। ऐसी भावना नहीं है कि जगत्का कोई भी जीव दुःखी हो। इसप्रकार वास्तवमें स्वतः वीतरागरूप रहना चाहते हैं।

मुनियोंके पास धन इत्यादि तो होते नहीं, किन्तु पिछी-कमण्डल अथवा पुस्तक होती है। उसे यदि कोई ले जाता है तो भले ही ले जाये। पिंछी-कमण्डलादि मेरे नहीं हैं और उन्हें ले जानेवाले पर मुझे द्वेष नहीं हैं; मैं तो ज्ञायक हूं। वीतरागभावसे मध्यस्थ रहनेवाले ज्ञानियों पर मुझे राग नहीं, और प्राण लेनेवाले अज्ञानी पर द्वेष नहीं है। मेरे निमित्तसे कोई दुःखी न हो। मैं तो जगतमें जो कुछ होता है उसे जानता रहूँ और अपने आत्माके वीतरागभावमें स्थिर रहूँ, इसप्रकार सम्पूर्ण परिग्रहरहित ज्ञायकभावकी भावनाकी पुकार की है।

मुनिदशामें स्वरूपानुभवकी एकाग्रतामें स्थिर होकर क्रोधादिभाव उत्पन्न होने ही न देना सो उत्तमक्षमा है। और गृहस्थके क्रोधादिभाव होते अवश्य हैं, किन्तु क्रोधादिभाव होने पर भी 'मेरा ज्ञानस्वरूप इन क्रोधादि से भिन्न है, क्रोध मेरे स्वरूपमें नहीं, वास्तवमें मेरा ज्ञान तो क्रोधका भी ज्ञाता है'-ऐसे क्रोधसे भिन्न अपने ज्ञानस्वरूपकी श्रद्धा-ज्ञान स्थिर रखना सो भी उत्तम क्षमा है। जो रागको अपना स्वरूप मानता है वह अपने आत्माकी हिंसा करनेवाला है, वह अनन्त क्रोधी है। यहाँ पर मुख्यतया तो मुनिदशाके धर्मकी बात है, किन्तु गौणरूपसे सम्यग्दृष्टि श्रावककी क्षमा आ जाती है, ऐसा जानना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि आचार्यने उत्तमक्षमा सम्बन्धी पांच श्लोक कहे हैं, उनमेंसे चार पूर्ण हुए। अब, वीतरागभावको छोड़कर यदि राग-द्वेषकी वृत्ति उठे तो स्वभावकी उग्र भावना द्वारा उस वृत्तिको नष्ट कर देना चाहिए, वह उत्तमक्षमा है—ऐसा अन्तिम श्लोकमें कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूडामणिं
किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोको जडः।

मिथ्यादृग्भिरसज्ञैरपटुभिः किंचित्कुतोपद्रवा–
द्यत बर्माजनहेतुमस्थिरतया बाधां मनोमन्यसे।।८६।।

अपने स्वरूपकी वीतरागी स्थिरतामेंसे बाहर निकलकर पर-सन्मुख वृत्ति जाने पर किंचित् राग या द्वेषका विकल्प उठे, तो उसे तोड़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करनेके लिए स्वतः अपनेको सम्बोधन कर कहते हैं कि रे मन! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्खजनों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंसे चंचल होकर कर्म आनेमें कारणभूत ऐसी वेदनाका तू अनुभव करता है, तो क्या तू अपने त्रिलोकमें सर्वश्रेष्ठ पूजनीय वीतरागभावको नहीं जानता? उसीप्रकार तूने जिस धर्मका आश्रय ग्रहण किया है क्या तू उस धर्मको नहीं जानता? और यह समस्त लोक अज्ञानी–जड़ है, क्या इस बातका तुझे ज्ञान नहीं है? अर्थात् तीनलोकमें वीतरागभाव ही सर्व श्रेष्ठ है–ऐसा जानकर–सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागभावरूप चारित्र ही धर्म है उसे पहिचानकर, और यह लोग जड़–मूर्ख हैं—ऐसा समझकर हे जीव! तू मूर्ख अज्ञानियों द्वारा किये जानेवाले उपसर्गोंसे अपने वीतरागभावको मत छोड़, राग-द्वेष करके दुःखी न हो!

उत्तमक्षमाका सम्बन्ध पर-जीवोंके साथ नहीं है। परजीवोंको क्षमा करना अथवा परजीव अपनेको क्षमा करें ऐसी क्षमाकी बात नहीं है। 'समस्त परजीव अपनेको क्षमा करें तभी क्षमा कहलाती है'–यदि ऐसा हो तो जहाँ तक अन्य जीव क्रोधको दूर करके क्षमाभाव न करे तब तक अपने भी वीतरागी क्षमाभाव नहीं हो सकेंगे; अर्थात् क्षमा तो पराधीन हुई, किन्तु पराधीनतामें कभी भी धर्म नहीं हो सकता। यहाँ तो स्वतः अपने ज्ञानस्वभावको रागादि विकारोंसे भिन्न जानकर, चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोगोंमें राग-द्वेष न करना और वीतरागी ज्ञाताभावरूपसे स्थिर रहना, सो ही उत्तमक्षमा है, यह स्वाधीन है। परजीव क्षमा दे या न दे, तो भी स्वतः अपनेमें उत्तम क्षमाभाव प्रगट कर सकता है।

यहाँ तो मुनिदशामें शुभ या अशुभ विकल्प उठे तो वह भी उत्तमक्षमामें भंग है, उसको टालकर वीतरागीभावकी भावना करते हुए

मुनिवर स्वतः अपनेको संबोधन करके कहते हैं कि—रे आत्मा ! तू अज्ञानी जीवों द्वारा किये गये उपद्रवोंसे दुःखित होकर क्लेश करता है, तो क्या तू त्रिलोकपूज्य अपने वीतरागभावको नहीं जानता ? कि जिससे तू वीतरागताको छोड़कर ऐसा द्वेषभाव करता है ?

मात्र वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा धर्म है। 'मैं वीतराग होऊँ और रागको दूर कर दूँ'—ऐसे विकल्पकी मुख्यता नहीं है, विकल्प क्षमा नहीं है, किन्तु स्वभावकी एकाग्रतामें वीतरागरूपसे परिणमित हो जाना और राग-द्वेषकी उत्पत्ति ही न होने देना सो वह उत्तमक्षमा है। जितने रागादिके विकल्प उठते हैं उतना उत्तमक्षमामें भंग पड़ता है। ऐसा उत्तमक्षमा धर्मका स्वरूप है। उसका सम्पूर्णरूपसे पालन न कर सके तो भी उसके यथार्थ स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धा-ज्ञान करना और जो रागादिभाव होते हैं उनका आदर न करना, वह भी उत्तमक्षमा धर्मका अंश है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अखण्ड चैतन्यस्वभावकी ओरका बल स्थिर रहते हुए जितने अंशमें क्रोधादिभाव न हों उतने अंशमें सहज क्षमा है।

और फिर इस श्लोकमें आचार्यदेवने लोगोंको जड़ कहा है, वहाँ लोगों पर द्वेष नहीं है, किन्तु अपनी आराधकताकी उग्रता है। अपना ज्ञान केवलज्ञान होनेके लिए उछल रहा है, लोग क्या कहते हैं वह देखनेकी आवश्यकता नहीं है। लोग तो जड़ समान हैं चाहे जो कहेंगे; किन्तु हे मुनि ! केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तत्परतामें तुझे जो भी उपसर्ग आयें उनके सन्मुख क्या देखना है ? तुझे तो अपनेमें जो शुभविकल्प उठे उनका भी बल नहीं है, और अपनी पर्यायके सन्मुख भी तुझे नहीं देखना है, किन्तु मात्र ज्ञायक स्वभाव पूर्ण है, उसीमें लक्ष्य करके लीन हो जा। इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभावकी भावनाके बलसे चैतन्यसमुद्र फटकर मानों इसी समय केवलज्ञान होगा—ऐसी दशा मुनिराजके प्रवर्तमान है। मुझमें पूर्ण ज्ञायकत्व है, उससे मैं पूर्ण ज्ञायक रहकर समस्त जीवोंके प्रति क्षमा करता हूँ, सबके प्रति जो राग-द्वेष है उसे छोड़कर मैं वीतरागभावसे अपने स्वभावमें रहता हूं, मुझे परकी उपेक्षा है और स्वभावकी एकाग्रता है। इस

प्रकार अपने ज्ञायकस्वभावकी रुचि और एकाग्रता करके आराधना करना सो ही महान पर्व है।

परमें लक्ष्य जाकर कल्पना उठे कि 'ऐसा क्यों ?' अथवा उपसर्ग पर लक्ष जाए कि मैं उपसर्ग सहन करूँ, यदि ऐसी वृत्ति उठे तो उसे तोड़नेके लिए कहते हैं कि अरे मुनि ! स्वभावकी एकाग्रता द्वारा तुझे केवलज्ञान क्यों नहीं, और यह वृत्तिका उत्थान क्यों ? ऐसे अप्रतिहतभावसे आराधनाको स्थिर रखना उसका नाम मुनिकी उत्तमक्षमा है।

સહજ ચિદાનંદ

२–उत्तम मार्दव धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–६)

आज दसलक्षण पर्वका दूसरा दिन है। कल उत्तमक्षमा धर्मका दिन था, आज उत्तममार्दव धर्मका दिन है। सनातन जैनधर्मके अनादि नियमके प्रमाणसे इन भादव सुदी ५ से १४ तकके दस दिनोंको 'दसलक्षण पर्व' कहते हैं और वही सच्चा पर्युषण है। आज उत्तममार्दव धर्मका दिन होनेसे 'पद्मनन्दि-पंचविंशतिका' शास्त्रमेंसे उसका वर्णन हो रहा है। उसके वर्णनके दो श्लोक हैं। उत्तममार्दव अर्थात् उत्तम निरभिमानता सम्यग्दर्शन सहित निरभिमानता सो उत्तममार्दव धर्म है। उत्तमक्षमा, मार्दवादि दस धर्म सम्यग्दर्शनयुक्त जीवके ही होते हैं–ऐसा ध्यान रखना चाहिए।

(वसंततिलका)

धर्मांगमेतदिह मार्दवनामधेयं
जात्यादिगर्वपरिहारमुषन्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमु न बोधदृशा समस्तं
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः।।८७।।

अर्थ :—उत्तमजाति, कुल, बल, ज्ञान, इत्यादिके अभिमानका त्याग सो मार्दव है। यह मार्दव धर्मका अंग है। जो अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टिसे समस्त जगतको स्वप्न तथा इन्द्रजालकी भाँति देखते हैं वे उत्तममार्दव धर्मको धारण क्यों नहीं करेंगे? अर्थात् अवश्य धारण करते हैं।

यहाँ मुख्यतया मुनिकी अपेक्षासे कथन है। उत्तमक्षमादि जो दस धर्म हैं वे सम्यक्चारित्रके ही भेद हैं, सम्यग्दर्शनके बिना वह धर्म नहीं होता। शरीर, मन, वाणीकी क्रिया आत्मा नहीं करता, उससे आत्मा भिन्न ही है,

दया–भक्ति अथवा व्रतादि जो शुभराग है वह धर्म नहीं है, और उसीप्रकार वे धर्ममें सहायक भी नहीं हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है वह विकार रहित है, ऐसे अपने निश्चयस्वभावकी प्रतीतिके द्वारा सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके पश्चात् विशेष स्वरूपस्थिरतासे चारित्रदशा प्रगट होती है, उस दशामें धर्मी जीवको ऐसी आत्मस्थिरता होती है कि जाति कुल आदिके अभिमानका विकल्प भी नहीं उठता, इसका नाम उत्तममार्दव धर्म है। जो चैतन्यस्वरूप आत्माको न पहिचानने और शरीर, कुटुम्ब, कुल, धन आदिको अपना माने उसके कभी जातिमद आदि दूर नहीं होते और उत्तममार्दव धर्म नहीं होता। धर्मात्मा जीवके वास्तवमें जाति, कुल, धन इत्यादिका मद नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, आत्माके शरीर ही नहीं है, और माता-पिता, कुल, जाति, धन इत्यादि भी आत्माके नहीं हैं–ऐसे अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा समस्त संसारको अपनेसे भिन्न देखनेवालेको निरभिमानता क्यों न हो? अवश्य होती है। आत्माकी जाति शुद्ध चैतन्यधातु नित्य आनन्दकन्द है, वीतरागता आत्माका कुल है और चैतन्य केवलज्ञान लक्ष्मीका स्वतः स्वामी है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी जाति, कुल लक्ष्मीको ज्ञानी अपना नहीं मानते, इससे उन्हें उसका अभिमान नहीं होता। शरीर या शरीर सम्बन्धी कोई पदार्थ ज्ञानको अपनेरूप भासित नहीं होते, राग अथवा अपूर्ण ज्ञानको भी वह अपना स्वरूप नहीं मानते, किन्तु परिपूर्ण स्वभावको ही अपना मानकर वह उसकी श्रद्धा करते हैं। ऐसा होनेसे ज्ञानिके जातिमद, कुलमद, ज्ञानमद या बलमद नहीं होता। जाति कुलादिको अपनेसे भिन्न जाना है इससे उसका अभिमान नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान ही उत्तममार्दव धर्मका मूल है–ऐसा यहाँ बतलाया है।

जाति–कुल आदिसे भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप जाननेके पश्चात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थको अस्थिरताके कारण कुलमद इत्यादिकी वृत्ति उठती है, किन्तु धर्मात्माके रागरहित स्वभावमें एकताके बलसे उसका निषेध है, वह रागको अपना स्वरूप नहीं जानता, रागका आदर नहीं है, किन्तु स्वभावका ही आदर है, इससे परमार्थतः तो वह सम्यग्ज्ञानके द्वारा उसका

ज्ञाता ही है। इसलिए यथार्थतया धर्मी जीवोंके जातिमद आदि नहीं होते। धर्मी जीवको माता-पितासे अथवा कुल जाति इत्यादिसे पहिचानना सो ठीक नहीं है, किन्तु उसके अन्तरंगके श्रद्धा-ज्ञानके द्वारा उसे पहिचानना यथार्थ है। धर्मीजीव किसी भी बाह्य पदार्थसे अपना बड़प्पन नहीं मानते, किन्तु स्वभावके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अभेदता होकर जितना राग दूर हो गया उतना बड़प्पन और जितना राग शेष रहा उतनी हीनता है—ऐसा जानते हैं। बाह्य पदार्थोंसे अपनेको बड़ा मानना सो मद है, और मेरी जाति हलकी, मेरा कुल नीचा, इत्यादि प्रकारसे बाह्य पदार्थोंसे अपनेको हीन मानना वह भी मद है, क्योंकि उसने जाति-कुलमें अहंपना किया है।

प्रथम सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान करनेके पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप स्थिरता प्रगट करके संत–मुनिदशामें जाति-कुल आदिका विकल्प तोड़कर वीतरागी स्थिरता बढ़ानेकी बात है। किन्तु उत्तमनिराभिमानता किसे कहा जाये इसीका जिसे भाव नहीं है, उसे उत्तममार्दव धर्म कहाँसे हो? आत्मा नित्य ज्ञानघन है, देहादि जो अनित्य संयोग हैं वे आत्माका स्वरूप नहीं हैं। जिसप्रकार 'घीका घड़ा' ऐसा बोला जाता है, किन्तु वह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं है, वैसे ही ज्ञानीकी पहिचाननेके लिए ऐसा कहा जाता है कि यह माता-पिता, यह कुल, यह जाति; किन्तु वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है। ज्ञानीको उसकी आत्मासे पहिचानना ही यथार्थ पहिचान है। आत्माका संसार माता, पिता, स्त्री, शरीरादिमें नहीं; किन्तु अपनी पर्यायमें ही जो अज्ञान और राग-द्वेष है वह संसार है। आत्माका संसारभाव आत्माकी दशामें ही है। अज्ञानी जीव भ्रमसे ऐसा मानता है कि यह मेरी माता यह मेरा पिता इत्यादि। यह उसका भ्रम ही संसार है। स्वतः अपनेको चैतन्यस्वरूपसे नहीं जाना एवं शरीरयुक्त माना, इससे शरीरके सम्बन्धी माता-पिताको अपने ही माता-पिता मानता है, और उसीसे जीवको शरीरके रूप इत्यादिका अभिमान होता है।

वास्तवमें तो स्वतः चैतन्यस्वरूप है और माता-पिता इत्यादिका आत्मा भी भिन्न चैतन्यस्वरूप है, कोई आत्मा शरीररूप नहीं है, तब फिर कौन किसके माता-पिता और कौन किसका पुत्र? जिनके ऐसी दृष्टि है,

उन्हींके परका अहंकार दूर होता है। यह शरीर तो जड़ परमाणु है–मिट्टी है। जो जीव शरीरके बलका अभिमान करता है वह जड़का स्वामी बनता है, शरीरसे निरन्तर भिन्न चैतन्यस्वरूपी अरूपीस्वभाव हूँ, ऐसा उसे भान नहीं है। चैतन्यस्वरूपका अनादर करके शरीरके बल इत्यादिका अहंकार करनेवाला जीव महान हिंसक है। शरीर मेरा है, शरीरकी क्रिया मैं करता हूं, और शारीरिक शक्ति अच्छी हो तो धर्मध्यान बराबर हो सकता है— ऐसा जो मानता है वह जीव आत्माकी हिंसा करनेवाला है। आत्मा शरीरादिका कुछ भी नहीं कर सकता। आत्माका बल (पुरुषार्थ) या तो अज्ञानभावसे पुण्य-पापमें अटक जाता है या असंग स्वभावको जानकर उसमें रागद्वेषरहित स्थिरता प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव जानता है कि पूर्ण ज्ञान और आनन्द ही मेरा रूप है। जाति, कुल, शरीर, बल, विद्याएँ अथवा अपूर्णज्ञान–वे कोई भी मेरा रूप नहीं हैं। जहाँ ऐसा भिन्नत्व यथार्थतया जाना वहीं परका अहंकार दूर हो गया है। पश्चात् जो अल्प रागकी वृत्ति उठे उसका ज्ञानीके निषेध है। यहाँ ऐसी बात है कि उस रागवृत्तिको उठने ही नहीं देना और वीतरागरूप स्थिर रहना सो उत्तममार्दव धर्म है, और यह मोक्षमार्गमें विचरनेवाले मुनिओंको सहचररूप होता है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला; आत्माका परसे भिन्न स्वरूप जानकर जिसने मिथ्यात्व-अज्ञानको जीत लिया है अर्थात् नष्ट किया है, तथा जिसने आत्मस्वरूपमें स्थिरता द्वारा राग-द्वेषको जीत लिया है वही जैन है। जो जैन होता है वह 'परका मैं करता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता, राग-द्वेषको अपना स्वरूप नहीं मानता।

ज्ञानियोंके ज्ञानमद नहीं होता। शास्त्रका ज्ञान या अवधि, मनःपर्ययज्ञान हो, उसका ज्ञानीको अभिमान नहीं होता। जिन्होंने पूर्णज्ञानस्वभाव ही जाना है उन्हें अपूर्णज्ञानमें संतोष या उसका अभिमान कैसे होगा ? बारहवें गुणस्थान तकका समस्त ज्ञान अल्प है, केवलज्ञानके अनन्तवें भाग बराबर है उस तुच्छ पर्यायका ज्ञानीको अभिमान नहीं है, किन्तु

अनन्त चैतन्यस्वभावकी महिमा और विनयसे स्वभावमें लीन होकर अपूर्ण ज्ञानका विकल्प छोड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। थोड़ेसे शास्त्र वाँचे और थोड़ासा सुना, वहाँ तो 'मैं बहुत जानता हूँ' जिसे ऐसा अभिमान होता है वह जीव पर्यायदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है, उसने पूर्णस्वभावको नहीं जाना है, इससे किंचित् ज्ञातृत्वकी महिमा और अभिमान होता है। कोई जीव सत्स्वभाव समझे बिना मंदकषाय करके निरभिमानता रखे तो वह पुण्यबंधका कारण है, यहां उसकी बात नहीं है, किन्तु धर्मात्माके स्वभावकी जागृतिपूर्वक वीतरागभाव प्रगट होने पर मदका विकल्प ही नहीं होता, वही सच्चा मार्दवधर्म है। स्वभावको जाने बिना पर्यायका अभिमान दूर नहीं होता और उसके धर्म नहीं होता।

इन दस धर्मोंका वर्णन करनेवाले श्री पद्मनन्दि आचार्य महान सन्त-मुनि हैं, छट्ठे-सातवें गुणस्थानकी श्रेणीमें झूल रहे हैं, अधिकांश वीतरागता प्रगटी है, और अल्प राग रह गया है, इससे वह कहते हैं कि अहो! सिद्ध भगवानका गुणगान हम क्या कर सकते हैं? हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, हम तो मूढ़मति-जड़बुद्धि हैं। जहां तक पूर्ण केवलज्ञान परमात्मदशाको प्राप्त नहीं किया वहां तक पामरता है। आचार्य-सन्त तो महाज्ञानके सागर हैं, अगाध बुद्धिवाले हैं, तीव्र आराधकदशा प्रगटी है, तथापि उनके कितनी निरभिमानता है? ज्ञानका किंचित् भी गर्व नहीं करते। अपूर्ण और पूर्णदशाके विकल्पको तोड़कर बारम्बार स्वरूपमें लीन हो जाते हैं-इसका नाम मार्दव धर्म है। पर्यायदृष्टिको छोड़कर अखण्डस्वभावके श्रद्धा-ज्ञानको स्थिर रखना यह गृहस्थका धर्म है। किन्तु शुभराग करना या पूजा-भक्ति करना यह कहीं गृहस्थका धर्म नहीं है। अशुभरागसे बचनेके लिए धर्मी गृहस्थके पूजा-भक्ति इत्यादिका शुभराग होता अवश्य है, किन्तु वह शुभराग धर्म नहीं है, किन्तु रागरहित चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा-ज्ञानपूर्नक जितना राग दूर हुआ उतना धर्म है। जो राग रहा वह धर्म नहीं है।

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वरूपमें जागृत है। मान-अपमानकी वृत्ति मेरे स्वरूपमें नहीं है, यह समस्त संसार इन्द्रजालके समान और स्वप्नवत् है

अर्थात् मेरे स्वभावमें समस्त जगतका अभाव है, मुझे जगतमें किसीके साथ सम्बन्ध ही नहीं है–ऐसा जाननेवाले ज्ञानियोंके मान कहाँसे होगा ? अर्थात् नहीं ही होगा। मुनिके तो मानकी वृत्ति ही नहीं उठती, वह निरभिमानता है, और गृहस्थके किसी मानादिकी वृत्ति हो जाये तो भी वह उसका ज्ञाता ही है, मानादिसे भिन्न स्वरूपके श्रद्धा-ज्ञानकी ही दृढ़ता उसे होती है। नित्य अबंध चैतन्यस्वभाव हूं, ऐसे स्वभावकी प्रभुताके समक्ष ज्ञानको अपूर्ण पर्यायकी पामरता भासित होती है, उन्हें क्षणिक पर्यायका अभिमान नहीं होता। उनके ही स्वभावके आश्रयसे वीतरागभाव होने पर उत्तममार्दव धर्म होता है।

अब कहते हैं कि स्व-परके भिन्नत्वके विवेक द्वारा शरीरकी अनित्यताका चिंतवन करनेवाले मुनियोंको किसी भी पदार्थमें अहंकार करनेका अवसर ही नहीं मिलता :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौतुजरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थांतरम्।
इत्यालोचयतो हृद्दिप्राशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि।।८८।।

कोई महल अत्यन्त सुन्दर, शोभायमान हो किन्तु, यदि वह सब ओरसे अग्निद्वारा सुलग रहा हो तो उसके बचनेकी अंशमात्र आशा नहीं है, वैसे ही यह शरीर वृद्धावस्थासहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करता है, इसप्रकार अपने हृदयमें निरन्तर सम्यग्ज्ञानरूपी उज्ज्वल विवेकसे शरीरकी अनित्यताका चिन्तवन करनेवाले मुनिको जगतके समस्त पदार्थोंमें गर्व करनेका अवसर ही किस प्रकार है ? अर्थात् जो ध्रुव नित्य चैतन्यस्वभावको जानकर और शरीरकी अनित्यताको समझकर, निर्मल आत्मध्यानमें मग्न हैं उन मुनियोंको जगतमें किन्हीं भी पदार्थोंका गर्व होता ही नहीं।

अत्यन्त मनोहर उद्यान युक्त भवन हो, वह चारों ओरसे अग्निमें जलने लगे और उसके बचनेकी किंचित्‌मात्र आशा न हो तो लोग उसका स्वामित्व छोड़कर बाहर भागते हैं–ऐसा अनित्यताका दृष्टांत देकर आचार्यदेव समझाते हैं कि यह शरीर अनित्य है, वृद्धावस्थायुक्त है, निरंतर अपनी दशाको परिवर्तित करता हुआ वह जीर्णताको प्राप्त होता है जैसी अवस्था आज हो, वैसी कल दिखाई नहीं देती, ऐसे इस अनित्य शरीरको किसी भी प्रकारसे रोका नहीं जा सकता। जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ अन्य कौनसे पदार्थ अपने हो सकते हैं? आत्माका चैतन्यस्वभाव ही ध्रुव और नित्य एकरूप है वह कभी जीर्ण नहीं होता और उसमें अग्नि भी नहीं लगती। इसप्रकार शरीरादिकी अनित्यता और अपने चैतन्यस्वभावकी नित्यताका अपने अंतरंगमें भेदज्ञान द्वारा विचार करनेवाले जीवोंको इस जगत्‌में किसी भी पदार्थ पर गर्व होनेका अवकाश ही नहीं है। जहाँ शरीरको ही पर जान लिया वहाँ अन्य किसका अहंकार करेगा?

शरीर अपने स्वभावसे ही निरन्तर एक अवस्थाको बदलकर दूसरी अवस्था धारण करता है। वृद्धावस्था हुई उसका कर्ता आत्मा नहीं है। धर्मी जीवको शरीरकी किसी भी अवस्थाका अहंकार नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वतः तो अरूपी चैतन्यस्वरूप है और शरीर जड़-परमाणुओंसे निर्मित है। आत्माने कभी भी शरीरादिका स्पर्श नहीं किया, वह तो अस्पर्शी है।

शरीर क्रमशः क्षण-क्षणमें नाशको प्राप्त होगा, वह स्थायी नहीं रहेगा। मैं त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, मेरे स्वरूपके आश्रयसे मेरी निर्मल दशा प्रतिक्षण बदलती है। अपने स्वभावके आश्रयसे बदलकर जो केवलज्ञान दशा होगी, वह तो द्रव्यमें अभेद एकाकार होकर सदा ज्योंकी त्यों रहेगी, किन्तु शरीरकी कोई भी अवस्था मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। ऐसा जानकर अपने ज्ञानमें स्थिरता प्रगट करके जिन धर्मात्माओंने देहादिके अभिमानका विकल्प छोड़ दिया है और स्वभाव दृढ़ताको प्राप्त किया है उनके उत्तममार्दव धर्म होता है।

हिलना-डुलना, बोलना, स्थिर रहना, मौन रहना, खाना-पीना इत्यादि

आत्मा नहीं करता, वह सब तो शरीरकी क्रियायें हैं। वे क्रियाएँ मैं करता— हूँ ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे जड़का अहंकार है। देहके परमाणुओंकी पर्याय समय-समय पर अपने आप ही बदलती है, उसके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मेरी पर्यायका सम्बन्ध अपने त्रिकाली द्रव्यके साथ है। निर्मल ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप मेरी दशा प्रतिसमय बदलकर ध्रुवस्वभावमें एकता बढ़ती जाती है। इसप्रकार स्वभावकी एकता होनेसे परका अभिमान ज्ञानीको कहाँसे हो ? अहो ! मुनिवरोंको अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हों, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ हो, तथापि अभिमानका किंचित् विकल्प भी नहीं होता, उलटे नम्र होकर स्वाभावोन्मुखता द्वारा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करते हैं। मुनिको पर्यायकी ओर लक्ष्य जाकर विकल्प उठे कि 'केवलज्ञान प्रगट करूँ' तो वह भी राग है। ऐसे विकल्पको भी तोड़कर जो वीतराग स्वरूपस्थिरता है वह उत्कृष्ट मार्दव धर्म है और वही मुक्तिका कारण है।

मेरे उपदेशसे दूसरेने धर्म प्राप्त किया, अथवा मैं किसी अन्यको धर्म प्राप्त करा दूँ–ऐसी बुद्धि ज्ञानियोंके नहीं होती। वाणी जड़ है, उस वाणीका कर्ता ही आत्मा नहीं है। तब फिर दूसरेको धर्म प्राप्त करा दूँ–यह बात कहाँ रही ? इसलिए परसे भिन्न अपने स्वरूपको पहिचानकर मुनिवरोंको निरन्तर ज्ञायक साक्षीस्वरूप आत्माके निर्मल स्वभावका ही ध्यान करना चाहिए। इसप्रकार उत्तम मार्दव धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

३–उत्तम आर्जव धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–७)

आज दसलक्षण पर्वका तीसरा दिन है; यह उत्तम आर्जव धर्मका दिन कहलाता है। उत्तम आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता। आत्माके ज्ञायकस्वरूपमें कपटका भाव ही उत्पन्न न होने देना सो उत्तम सरलता है। आत्मा ज्ञान-आनन्दकी मूर्ति, क्रोध, मान, माया, लोभ रहित है, उसे यथारूप (जैसा है वैसा) समझना और श्रद्धामें वक्रता न करना सो सम्यग्दर्शनरूप सरलता है। और चैतन्यस्वरूपको जैसा है वैसा मानकर स्वरूपकी वक्रता करके पुण्य-पापयुक्त मानना सो अनन्त कपट है। किसी परके आश्रयसे अथवा पुण्यपरिणामसे आत्माको लाभ मानना सो वक्रता है, अनार्यता है। आर्य अर्थात् सरल। जैसा सहज ज्ञायकमूर्ति आत्मस्वरूप है वैसा ही मानना, किंचित् विपरीत न जानना सो सरलता है। और चैतन्यस्वरूपकी प्रतीतिमें वक्रता करके किसी विकल्प या व्यवहारके आश्रयसे लाभ मानना सो अनार्यता है। व्यवहार रत्नत्रय भी रागरूप है, वह आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माका ज्ञायकस्वरूप पुण्य-पापरहित है, व्यवहार रत्नत्रयरूप पराश्रितभावसे उसे लाभ मानना सो अनन्त कपटका सेवन है। और उस व्यवहारका आश्रय छोड़कर निश्चय शुद्ध ज्ञातास्वभावको जानना-मानना और उसमें स्थिर होना सो उत्तम आर्जव धर्म है। स्वभावकी श्रद्धा और ज्ञान होनेके पश्चात् मुनिदशामें जो व्यवहार रत्नत्रयकी वृत्ति उठे वह राग है, वह उत्तम आर्जव धर्म नहीं है; किन्तु रागरहित होकर जितनी स्वरूपस्थिरता हुई उतना ही उत्तम आर्जव धर्म है। वास्तवमें तो आत्माके वीतरागभावमें ही उत्तमक्षमादि दसों धर्म आ जाते हैं। दसों धर्मोंमें वीतरागभाव एक ही प्रकारका है, किन्तु वह वीतरागभाव होनेसे पूर्व क्षमा आदि जिस प्रकारका विकल्प होता है उसीके अनुसार उत्तमक्षमादि नामोंसे

उस वीतरागभावको बतलाया जाता है। और उस शुभ विकल्पको उपचारसे उत्तमक्षमादि धर्म कहा जाता है। आचार्यदेव उत्तम आर्जव धर्मका वर्णन करते हैं :—

(आर्या)

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवंभवत्येतत्।
धर्मो विकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ॥८९॥

जो बात मनमें हो वही वचन द्वारा प्रगट करना उसे आर्जव धर्म कहते हैं, और उससे विरुद्ध अर्थात् मायासे दूसरेको ठगनेका परिणाम सो अधर्म है। इनमेंसे आर्जव धर्म स्वर्गका और अधर्म नरकका पंथ है। जैसा हृदयमें हो वैसा ही कहनेका परिणाम तो शुभपरिणाम है; वाणीसे भिन्न स्वरूपी हूं, और जो शुभपरिणाम हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा सम्यक्स्वभावके भानपूर्वक जिसके शुभका निषेध होता है उसके शुभपरिणामको व्यवहारसे उत्तम आर्जव धर्म कहते हैं। परमार्थसे तो जैसा शुद्ध आत्मस्वभाव जाना है वैसा ही परिणमन पर्यायमें हो जाना सो ही उत्तम सरलता धर्म है। जैसा स्वभाव है वैसा ही परिणमित हो गया, किन्तु किंचित्मात्र वक्रता (विकार) नहीं हुई वह परमार्थसे उत्तम आर्जव धर्म है। और उस स्वभावमें विकृति होकर जितना रागादि उत्पन्न हो उतना उत्तम आर्जव धर्ममें भंग है।

यहां आर्जव धर्मके फलसे स्वर्गकी प्राप्ति कही है। सम्यग्दर्शनपूर्वक रागका नाश करके जितना वीतरागभावरूप आर्जव धर्म प्रगट किया है वह तो मोक्षका कारण है, किन्तु उस समय पूर्ण वीतरागता नहीं है और राग रह जाता है इससे उस शुभरागरूप आर्जव धर्मके फलमें स्वर्ग मिलता है। रागको लेकर बीचमें भव धारण करने पड़ते हैं; परन्तु जिन्हें स्वभावका भान नहीं है और धर्मका अनादर करके वक्रतासे वर्त रहे हैं वे तो नरकगतिमें जाते हैं। आत्मस्वभावको विपरीत मानना ही सबसे बड़ी वक्रता है। सरलताके शुभपरिणाम या वक्रताके अशुभपरिणाम, इन दोनोंसे रहित एक ज्ञायकस्वरूपी आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञानको स्थिर रखना सो धर्म है, वह धर्म प्रत्येक गृहस्थके हो सकता है। और ऐसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक

जिनके आत्मामें अत्यन्त सरलता प्रगट हो गई उनके उत्तम आर्जव धर्म है। चारित्रदशामें कपटभाव तो होने ही नहीं देना और 'सरलता करूँ' ऐसा शुभभाव हो वह भी छोड़कर वीतरागी सरलता प्रगट करना उसका नाम उत्तम आर्जव धर्म है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि मायाचार करनेसे अहिंसा इत्यादि उत्तम गुणोंका भी लोप हो जाता है :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविधातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम्।
सर्वे तत्र यदासते विनिभृता क्रोधदयस्तत्वत–
स्तत्पापंवत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरंभ्राम्यति।।९०।।

यदि एकबार भी मायाचारी की जाए तो अत्यन्त कठिनाईसे वंचित किए हुए मुनिके गुण सत्य–अहिंसा आदिको ढक देती है, अर्थात् मायाचारी पुरुषके अहिंसादि गुण भी आदरणीय नहीं रहते। और उस मायाचाररूपी मकानमें क्रोधादि कषायें भी छिपी रहती हैं; उस मायाचारसे उत्पन्न हुआ पाप जीवको अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें भ्रमण कराता है। इसलिए मुनियोंको मायाचार उत्पन्न ही न होने देना चाहिए।

जो अपने रागादि दोषोंको दोषके रूपमें नहीं जानता और उन्हें धर्म मानता है, वह वास्तवमें मायाचारी है। अपने दोषको छिपानेका भाव सो मायाचार है। जिसे सज्जन पुरुषोंकी यथार्थ बात नहीं रुचती और अपने दोषकी बात सुनकर कहते हैं कि 'अरे! क्या हम कपटी हैं? मेरे कहनेका आशय दूसरा था और आप कुछ दूसरा ही समझे हैं।' ऐसा कहकर जो अपना बचाव करना चाहता है वह पापी—मायाचारी है। ऐसे जीवमें यदि अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि हों तो भी वास्तवमें वे प्रशंसनीय नहीं हैं। मुनिके भी जितने अंशमें राग होता है उतने अंशमें उत्तमक्षमा–निरभिमानता इत्यादि धर्मोंमें कचास है। पहले अपनेको सत्‌की कुछ भी प्रतीति हुई उन सत्पुरुषके पाससे

अपूर्व सत्‌की प्रतीति हुई उन सत्पुरुषके उपकारको न माने, अपने बड़प्पनके लिए उनका नाम आदि छिपाये, उन्हें याद न करे, प्रगट न करे तो वह जीव कपटी है, वास्तवमें उसने अपने स्वभावको ही छिपाया है।

यहां पर मुख्यतया मुनिदशाकी बात है। किंतु श्रावक-गृहस्थोंको भी स्वभावके भानपूर्वक मायारहित उत्तम, सरलभाव प्रगट करनेका प्रयत्न करना चाहिए, और उत्तमक्षमादि धर्मोंका जितना हो सके उतना पालन करना चाहिए। मुनिको कुछ दोष लग गया हो और वह दोष यदि गुरुके पास प्रगट करनेमें संकोच करे तो वह माया है। दोष छिपानेकी बुद्धिसे गुरुके पास प्रगट न करे और यदि अपने आप प्रायश्चित्त ले या 'मैं अपना यह दोष प्रगट करूंगा तो बाह्यमें मेरी निन्दा होगी,—ऐसे भयसे दोष प्रगट न करे, अथवा उसे अल्प करके कहे तो वह माया है। और अपनेसे हो गये समस्त दोषोंको सरलता पूर्वक प्रगट कर देनेका भाव भी शुभभाव है, उस शुभभावका आदर नहीं है, इससे मुनिके व्यवहारसे उत्तम आर्जव है। और वीतरागभावसे स्थिर रहकर दोषकी उत्पत्ति ही न होने देना सो परमार्थसे उत्तम आर्जव है जो शुभरागसे धर्म मानता हैं ऐसा अज्ञानी जीव चाहे जैसी सरलताके परिणाम रखे, छोटेसे छोटे दोषको भी प्रगट करके प्रायश्चित्त ले तो भी उसके किंचित् आर्जव धर्म नहीं है, क्योंकि रागमें धर्म माना वहां मूल मिथ्यात्वरूपी दोष है, उसका उसे भान नहीं है। जो दोषको ही गुण मान बैठा है उसके सरलता कैसी ? उत्तम सरलता तो सम्यग्दर्शन पूर्वक हो सकती है और वही धर्म है। जैसा मनमें हो वैसा ही वचनसे बोले–ऐसी सरलता रखे, किन्तु मान्यता ऐसी हो कि यह वचन बोलनेकी क्रिया मैं करता हूँ, और इससे मुझे लाभ होता है तो उस जीवके यथार्थ सरलता नहीं है। उसने वक्र मान्यता करके अपने सम्पूर्ण चैतन्यस्वभावको छिपाया है–वह परमार्थसे अनन्त कपट है।

जो श्रीगुरु आदिके उपकारको छिपाता है वह तो व्यवहारमें भी सरल नहीं है, उसके उत्तम वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं। जिसे व्यवहार सरलता प्रगटी हो वह जीव गुरुके पास ऐसी विनयपूर्वक कहता है कि– प्रभो ! मैं मूढ, पामर था, आज तक मुझे कुछ भी खबर नहीं थी, आपकी

कृपासे ही मुझे अपूर्व सत्य प्राप्त हुआ। इसप्रकार सीधा–सरल होकर अर्पणता लाकर स्वभावका बहुमान किये बिना तो व्यवहार सरलता भी नहीं होती, और उसका दोष दूर होकर वीतरागता प्रगट नहीं होती। प्रथम तो बराबर पहिचान करना चाहिए कि धर्म क्या है, और दोष क्या है? अपने परमार्थ स्वभावको जानकर उसके आश्रयसे स्थिर रहनेमें राग-द्वेषरूप मायाकी उत्पत्ति ही न हो–यह उत्तम आर्जव धर्म है। मुनियोंके वैसी विशेष स्थिरता होती है, किन्तु उनके जो अल्प राग होता है उसे दूर करके वे सम्पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट करनेका पुरुषार्थ करते हैं। और गृहस्थोंको प्रथम तो ऐसी यथार्थ पहिचान करना चाहिए तथा दोषोंको टालकर स्थिरता बढ़ानेकी भावना करनी चाहिए। जो अपने आत्मामें ऐसी यथार्थ प्रतीति करे और वीतरागता प्रगट करे उसने ही सच्चा दसलक्षण पर्व मनाया कहा जाता है।

इसप्रकार उत्तम आर्जव धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

સહજ સિદ્ધાનંદ.

४–उत्तम सत्य धर्म

(भाद्रपद शुक्ल–८)

आज दसलक्षण धर्मका चौथा दिन है। उत्तम क्षमा, मार्दव और आर्जव इन तीन धर्मोंके स्वरूपका वर्णन हो चुका है। आज उत्तम सत्यका दिन है। इन उत्तमक्षमादि धर्मोंका आराधन सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है। इन भादव सुदी ५ से १४ तकके दस दिनोंको दसलक्षणपर्व कहते हैं और वही पर्युषण पर्व है।

निर्ग्रंथ सन्त मुनिवरोंके सम्यक्दर्शन–ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्म कैसे होता है, उसका वर्णन श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव करते है :—

(आर्या)

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च।
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेय धीधनर्मौनम्।।९१।।

उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले मुनिवरोंको, प्रथम तो मौन ही रहना चाहिए। अर्थात् परमसत्य आत्मस्वभावकी एकाग्रतामें रहकर बोलनेका विकल्प ही न होने देना चाहिए। और यदि विकल्प उठे तो ऐसे वचन बोलना चाहिए कि जो सदैव स्व–परको हितकर हों, अमृतसमान मिष्ट और सत्य हों।

सम्यग्ज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञानके धारक मुनिओंके ही उत्तम सत्य होता है। उत्तम सत्य सम्यक्चारित्रका एक प्रकार है। जिसके सम्यग्ज्ञान न हो और ऐसा मानता हो कि आत्मा परका कर्ता है, पुण्यसे धर्म होता है, ईश्वर जगत्का कर्त्ता है–वह जीव यदि लोक–व्यवहारमें सत्य बोलता हो तो भी उसके उत्तम सत्य धर्म नहीं होता। यहां तो सम्यग्दर्शनके बाद मुनिदशाकी मुख्यरूपसे बात है। उत्तम सम्यग्ज्ञानके धारक मुनिवरोंको

प्रथम तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है, अर्थात् चैतन्यस्वरूपमें वीतरागी स्थिरता प्रगट करके वाणीकी ओरका विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए। ऐसा वीतरागीभाव ही परमार्थसे उत्तम सत्य धर्म है। और अस्थिरताके कारण जब विकल्प उठे तब स्व और परको हितकर, सत्य तथा प्रिय वचन बोलनेका शुभराग सो व्यवहारसे उत्तम सत्य धर्म है। उसमें जो राग हो वह धर्म नहीं है, किन्तु उस समय जितना वीतरागभाव है उतना धर्म है। वाणी बोली जाये या न बोली जाये वह तो जड़ परमाणुओंकी स्वतन्त्र अवस्था है, आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है। वाणीका कर्त्ता आत्मा है–ऐसा जो मानता है वह अज्ञानी है, उसके सत्यधर्म नहीं होता।

प्रश्न :—यदि वाणीका कर्त्ता आत्मा नहीं है तो 'मुनिओंको सत्यवचन बोलना' ऐसा यहाँ आचार्यदेवने किसलिए कहा?

उत्तर :–सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलनेका भाव हो उस समय यदि वाणी निकले तो वह सत्य ही होती है–ऐसा मेल बतानेके लिए निमित्तसे कहा जाता है कि 'मुनिओंको सत्य बोलना' उसमें ऐसा आशय है कि–मुनिओंको आत्मस्वरूपमें स्थिर रहकर वाणीकी ओरका विकल्प ही न होने देना चाहिए, और यदि विकल्प हो तो असत्य वचनकी ओरका अशुभराग तो नहीं ही होने देना चाहिए। किन्तु 'आत्मा जड़ वाणीका कर्त्ता है, –ऐसा कहनेका तात्पर्य नहीं है।

वाणी बोली जाये अथवा न बोली जाये–उसका कर्ता जीव नहीं है। ज्ञानी अपनेको वाणीका कर्ता नहीं मानते, और सत्य बोलनेका विकल्प हो उसके स्वामी भी ज्ञानी नहीं होते, वे वाणी और विकल्प रहित चिदानन्दस्वभावको ही अपना स्वरूप मानकर उसका आदर करते हैं। इससे श्रद्धा और ज्ञानकी अपेक्षासे तो चौथे गुणस्थानमें धर्मात्माके भी उत्तमसत्य इत्यादि धर्म होते हैं। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही सत्य जानना सो धर्म है। जैसी है वैसी ही सत्य वस्तु जाने बिना धर्म हो ही नहीं सकता। सम्यग्ज्ञानसे वाणी–विकल्प रहित आत्मस्वरूपको जाननेके पश्चात् उस स्वरूपमें स्थिरता करना, उसमें उत्तमक्षमादि दसों धर्म समाविष्ट हो जाते हैं। और सत्य

बोलनेका उपदेशादिका विकल्प उठे वह व्यवहारसे उत्तम सत्य है। सत्य बोलनेके विकल्पको अथवा वाणीको ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। मैं वीतरागभावका कर्ता हूँ, इच्छा अथवा भाषाका मैं कर्ता नहीं हूँ और न वे मेरे कर्म हैं।

जो सत्य बोला जाता है, उन शब्दोंका मैं कर्ता हूँ, जो जीव ऐसा माने वह बिल्कुल झूठ बोलता है, क्योंकि शरीर-वाणी इत्यादि पदार्थ अपने नहीं हैं और न स्वतः उनका कर्ता है। तथापि मैं उन पदार्थोंका कर्ता हूँ–ऐसा वह असत्य मानता है। इससे उसके मिथ्यात्वरूप महान असत्यका सेवन है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि–मुनियोंको मौन रहना चाहिए। उसका यथार्थ अर्थ यह है कि–मुनियोंको वाणीकी ओरका लक्ष्य छोड़कर आत्मामें एकाग्र रहना चाहिए। वाणीको रोकनेकी क्रिया आत्माकी नहीं है, किन्तु आत्मा जब बोलनेके विकल्पको तोड़कर वीतरागभावसे आत्माके अनुभवमें लीन हो तब बाह्यमें वाणी नहीं बोली जाती–ऐसा परमाणुओंका स्वतंत्र परिणमन होता है। 'मौन रहना' यह तो 'घीका घड़ा' कहनेकी भाँति उपचार कथन है। वास्तवमें भाषा करना या उसे रोकना चेतनके आधीन नहीं है। धर्मोपदेश करूँ, स्वाध्याय करूँ, इसप्रकारका शुभविकल्प मुनिको हो और परमसत्य उपदेश भी निकले, किन्तु उस समय सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभरागको छेदकर जितना वीतरागभाव है वही धर्म है, जो शुभराग है उसे मुनि धर्म नहीं मानते, और वे उसका आदर भी नहीं करते इससे उनके उत्तम सत्य धर्म है। किन्तु यदि रागको आदरणीय माने तो वहाँ तो सम्यक्दर्शन भी नहीं होता, उत्तमसत्य धर्म तो सम्यक्चारित्रका भेद है, वह तो होगा ही कहांसे ?

मेरे शुभरागसे या वाणीसे मुझे या अन्यको लाभ हो अथवा मैं निमित्त बनकर दूसरेको समझा दूँ–ऐसा जिसका अभिप्राय है वह जीव महा असत्य अभिप्रायका सेवन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। शुभराग या व्यवहार महाव्रतका पालन करते-करते धर्म होता है–ऐसा उपदेश अथवा निमित्तसे दूसरेका कार्य

हो, पुण्यसे धर्म हो–इसप्रकारका उपदेश दे वह जीव असत्य वक्ता है और मिथ्यादृष्टि है। ऐसे जीवोंकी बात नहीं है। यहाँ पर तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्‌चारित्रदशा प्रगट करके जो मुनि हुए हैं और केवलज्ञान प्रगट करनेकी योग्यतावाले हैं–ऐसे मुनिवरोंको सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि–अहो मुनिवरो! तुम्हें स्वरूपस्थिरतामें लीन रहकर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करना ही योग्य है। मुनिओंको किसी प्रकारका शुभराग करना भी योग्य नहीं है। सत्यवाणी की ओर की आकाँक्षाको नष्ट करके परमसत्य आत्मस्वभावमें स्थिर रहकर केवल ज्ञान प्रगट करना योग्य है।

श्री आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्मकी महिमा बतलाते हैं :–

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते,
भवत्याराधिता सिद्धिः जगत्पूज्या च भारती॥९२॥

जो जीव सत्यवचन बोलनेवाला है उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं, अर्थात् सत्यव्रतका पालन करनेसे समस्त व्रतोंका पालन होता है और वह सत्यवादी पुरुष जगतपूज्य सरस्वतीको भी सिद्ध कर लेता है।

शास्त्रोंमें ऐसी कथनशैली होती है कि–जब जिसका वर्णन होता है उसे मुख्य करते हैं और दूसरेको गौण रखते हैं। यहां सत्यव्रतका वर्णन करना है इससे उसे मुख्य करके कहा है कि—एक सत्यव्रतके पालनमें समस्त व्रतोंका समावेश हो जाता है। जब ब्रह्मचर्यका वर्णन करना हो तब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मचर्यव्रतमें समस्त व्रत समा जाते हैं, वैसे ही जब अहिंसाका वर्णन हो रहा हो तब ऐसा कहते हैं कि अहिंसाके पालनमें ही सम्पूर्ण व्रत आ जाते हैं। अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि भेद व्यवहारधर्मकी अपेक्षासे हैं। परमार्थसे तो मात्र वीतरागभावमें ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्म आ जाते हैं।

सत्य–असत्य वचनकी ओरका शुभ या अशुभ विकल्प सो आत्माका स्वरूप नहीं है। सत्य–असत्य वचन वैसे ही उस ओरका शुभ–अशुभ राग, उन दोनोंसे भिन्न रहकर आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे आत्मस्वभावके आश्रयके बिना यथार्थ सत्यव्रत नहीं हो सकता। शुद्ध आत्मस्वभावकी

श्रद्धाके पश्चात् चारित्रदशामें आगे बढ़ने पर जो सत्य व्रतादिके विकल्प आते हैं उन्हें उपचारसे–व्यवहारसे, निमित्तसे उत्तमसत्य धर्म कहते हैं। परमार्थसे तो सत्यवचनकी ओरका भी राग छोड़कर जो वीतरागभाव हुआ वही उत्तमसत्य धर्म है। वह वीतरागभाव ही उत्तम अहिंसा है, वही ब्रह्मचर्यादि है और वही वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। ऐसा वीतरागभाव मुनिवरोंके होता है। जो शुभराग होता है वह भी वास्तवमें असत्य है, हिंसा है। सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभावरूप उत्तमसत्य धर्ममें अन्य समस्त धर्म आ जाते हैं। जो ऐसे उत्तमसत्य व्रतका पालन करते हैं वे जगत्पूज्य सरस्वतीको प्राप्त करते हैं अर्थात् वे केवलज्ञानको प्राप्त होते हैं और दिव्यध्वनि छूटती है। सरस्वती अर्थात् केवलज्ञान और निमित्तरूपसे कहा जाय तो दिव्यध्वनि सरस्वती है। भगवानकी दिव्यध्वनिको सरस्वती, अम्बा इत्यादि भी कहते हैं।

लौकिक सत्य बोलनेके भाव तो जीवने अनन्तबार किये हैं, किन्तु परमार्थ सत्यका स्वरूप नहीं समझा। सच्चे ज्ञानसे वस्तुस्वरूपका निश्चय किये बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। अज्ञानी जो कुछ बोलता है वह लौकिक सत्य भले हो, किन्तु परमार्थसे तो वह असत्य ही है। परमार्थ सत्य तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है। आत्माके त्रैकालिक शुद्ध स्वभावको जानकर उसमें विशेष स्थिरताके पुरुषार्थ द्वारा असत्यको (शुभ-अशुभरागको) टाले वही उत्तमसत्य धर्म है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंके भी श्रद्धा-ज्ञानकी अपेक्षासे उत्तमसत्यादि धर्म होते हैं।

आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्मका विशेष माहात्म्य करते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसुरत्व संसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम्।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते।।१३।।

हेय–उपादेयके विवेककी सूक्ष्मतायुक्त उपरोक्तानुसार उत्तमसत्य-धर्मके स्वरूपको जानकर जो सत्यवादी मनुष्य हैं वे परभवमें श्रेष्ठ चक्रवर्ति

तथा इन्द्रादि पद प्राप्त करते हैं, और संसार-सरिताके पारको प्राप्त होते हैं यह उसका मुख्य फल है, परभवकी बात तो दूर रही, किन्तु वे इसी भवमें चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यश पाते हैं, वे सज्जन कहलाते हैं और सज्जन उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। ऐसे उत्तम सत्य धर्मके फलका वर्णन किसप्रकार किया जाये ? इसलिए मुमुक्षुओंको सम्यग्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्मका पालन करना चाहिए।

आत्माका स्वभाव वीतराग ज्ञानमय है, वह परकी उपेक्षा करनेवाला है। परकी उपेक्षा किये बिना वीतरागभाव प्रगट नहीं होता और वीतरागभावके बिना उत्तम सत्यादि धर्म नहीं होते। 'मैं परका कर सकता हूँ, अथवा निमित्त हो तो कार्य होता है'—ऐसी जिनकी मान्यता है वे जीव परपदार्थोंकी उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख नहीं हो सकेंगे। परसे भिन्न अपने स्वभावको जानकर जो जीव परमसत्यका (आत्मस्वभावका) आराधन करते हैं वे जीव वीतरागभावके फलमें मुक्ति पाते हैं और साधकदशामें जो राग रह जाता है उसके फलस्वरूप इन्द्रादि पदवी प्राप्त होती है। अज्ञानी चाहे जैसा सत्यका शुभराग करे फिर भी उसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लोकोत्तर पदवी प्राप्त नहीं होती। ज्ञानियोंको साधकदशामें जो राग वर्त रहा है उसका निषेध है, इससे उनके इन्द्रादि पदके योग्य उच्च पुण्य बँध जाता है। और इस लोकमें भी ऐसे सम्यग्ज्ञानी-सत्यवादीको सज्जनपुरुष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, और उनकी उज्ज्वल कीर्ति सर्वत्र फैलती है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह समस्त फल तो गौण हैं। उत्तमसत्य धर्मका मुख्य फल तो मोक्षपदकी प्राप्ति है। इसलिए सज्जनोंको अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है—ऐसा समझकर वस्तुस्वभावकी सम्यग्श्रद्धा और ज्ञान प्रगट करना चाहिए, और इस सम्यग्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तमक्षमादि भावरूप वीतराग धर्मका आराधन करना चाहिए।

इसप्रकार उत्तमसत्य धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

५–उत्तम शौच धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–९)

आज दसलक्षण पर्वका पांचवाँ दिन है, यह उत्तम शौच धर्मका दिन कहा जाता है। उत्तमशौच अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित पवित्रता अर्थात् निर्लोभता। यह दसों धर्म मुख्यतः मुनिदशामें होते हैं, गृहस्थोंके गौणरूपसे होते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिका शास्त्रमें शौचधर्मका वर्णन करते हैं :—

(आर्या)

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिसकं चेतः।
दुर्भेद्यान्तमल हृत्तदेव शौचं परं नान्यत्॥९४॥

जो परस्त्री और परपदार्थोंके प्रति निःस्पृह है, सर्व प्राणियोंके प्रति अहिंसक है और दुर्भेद्य जो अन्तरका मैल है उसे जिसने घो डाला है, ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शौचधर्म नहीं है।

शौच अर्थात् पवित्रता। जिन्हें पवित्र आत्माका भान नहीं है और जो देहको ही अपना मान रहे हैं–ऐसे अज्ञानी जीव शरीरको पवित्र रखनेको ही शौचधर्म मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शौचधर्म नहीं है। शरीरको अपना मानना तो महान अशुचि है। जिस आत्माने भेदज्ञानरूपी जलसे उस मिथ्या मान्यतारूपी अशुचिको धो डाला है, वही आत्मा शौचधर्म है।

जिसे पवित्र चैतन्यस्वरूपका भान न हो और पुण्य-पापको ही अपना कर्तव्य माने, मैं परका कर्ता हूँ ऐसा माने, वह जीव परपदार्थोंसे निस्पृह नहीं

हो सकता, जिसे पुण्य-पापरूप विकार भावोंकी पकड़ है उसका ज्ञान विकारसे मलिन है। जो ऐसा मानता है कि परका मैं करता हूं, उसका ज्ञान मिथ्यात्वरूपी मैलसे मलिन है। मुझे परकी सहायता है, निमित्तके आश्रयसे धर्म होता है–ऐसी जिसकी मान्यता है वह जीव परपदार्थोंमें आसक्त है। जो जीव परमें आसक्त है वह महान अशुचिसे लिप्त है। जिसने पुण्यमें और उसके फलमें सुख माना है वह जीव वास्तवमें स्त्रियोंके प्रति निस्पृह नहीं है। जो पुण्यमें आसक्त है उसे उसके फलमें भी आसक्ति है, वह जीव स्त्री आदि पदार्थोंके प्रति निस्पृह नहीं है और उसके शौचधर्म नहीं होता।

स्नानादिसे शरीर स्वच्छ रखे तो वह कहीं शौचधर्म नहीं है। शरीरकी शुद्धिसे आत्माका धर्म मानना सो मिथ्यात्व है और पुण्य–पापके भावोंसे आत्माकी पवित्रता हो, ऐसा माने उसे किंचित् धर्म नहीं होता; किन्तु उलटी मिथ्यात्वरूपी मैलकी पुष्टि होती है। शरीरसे भिन्न और पुण्य-पापसे रहित ऐसे पवित्र आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्रतीतिरूपी जल द्वारा मिथ्यात्वरूपी मैलको धो डालना और पवित्र आत्मस्वरूपमें एकाग्रता द्वारा रागादि मैलको धो डालना, वही उत्तमशौच धर्म है। ऐसा धर्म मुनिओंके होता है। जितना रागादिका विकल्प हो वह तो अशुचि है। मुनिवरोंकी परिणति स्त्री, लक्ष्मी आदिसे बिलकुल निस्पृह है, शुभ और अशुभ दोनों भावोंको एक–सा मानते हैं, दोनों भाव अशुचिरूप हैं, आत्मस्वभावसे विपरीत अशुद्धभाव हैं। मुनिओंके सहज ज्ञानकी एकाग्रतासे वे रागादि अशुद्धभाव होते ही नहीं हैं। रागादि रहित वीतरागभाव सो उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तमशौच धर्म नहीं है।

सज्जन पुरुषोंके परस्त्री सेवनका भाव होता ही नहीं। किन्तु वास्तवमें तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभावसे आत्माको लाभ मानकर शुभपरिणतिका संग करना, वह परस्त्रीगमन है। धर्मी जीव उस अशुभ परिणामको अपना स्वरूप नहीं मानते, और उसमें एकता नहीं करते। इससे श्रद्धा-ज्ञानकी अपेक्षासे उनके भी शौचधर्म है। आत्मामें जो परभावोंका ग्रहण करता है वह परमार्थसे पराये धनका ग्रहण है। जिसे परभावोंमें

ग्रहणबुद्धि है वह जीव उसके फलस्वरूप लक्ष्मी आदि बाह्य संयोगोंको भी अपना माने बिना नहीं रहेगा। मुनिजन ज्ञानानन्द स्वभावके अनुभवकी जागृति द्वारा परभावोंकी उत्पत्ति नहीं होने देते, इससे वे समस्त परपदार्थों और परभावोंसे निस्पृह है; परभावोंसे रहित उनकी जो पवित्र वीतरागी परिणति है वही उत्तमशौच धर्म है। बाह्यमें स्नानादि करना वह शौच नहीं है और पुण्य–परिणामोंमें भी आत्माकी शुचिता नही है। जिसे भेदना दुर्लभ है ऐसी पुण्य–पापभावरूप मलिनताको आत्माकी पवित्रताके बलसे जिसने भेद डाला है उसके उत्तमशौच धर्म है।

स्नानादिसे शुद्धता नहीं हो सकती–इस बातको आचार्यदेव स्पष्ट करते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

गंगा सागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै-
र्धौतं किं बहुशोऽपि शुद्धति सुरापूरप्रपूर्णो घटः।।६५।।

गंगा नदी, समुद्र या पुष्करादि समस्त तीर्थोंमें सदैव स्नान करानेसे भी शरीरकी मलिनता दूर नहीं होती, शरीर कभी पवित्र होता ही नहीं। स्वभावसे ही शरीर अशुचिरूप है जिस प्रकार मदिरासे भरे हुए घड़ेको अति स्वच्छ जलसे अनेकबार धोया जाय तो भी वह स्वच्छ नहीं होता, उसीप्रकार जिसका चित्त मिथ्यात्वादि मलिन भावोंसे भरा हुआ है वह जीव बाह्यमें शरीरको निर्मल जलसे चाहे जितनी बार धोये, किन्तु उसे पवित्रता नहीं होती। जो पुण्यसे आत्माको लाभ मानता है वह जीव अपने आत्मामें विकारका लेपन करके आत्माकी मलिनतामें वृद्धि करता है। पुण्यभावोंसे आत्माकी शुद्धि नहीं होती। पुण्य-पाप रहित और शरीरसे भिन्न, पवित्र आत्मस्वरूपकी प्रतीतिसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करना सो ही पवित्रता है, और वही शौच धर्म है। स्नानादिमें जो धर्म मानते हैं वे अपने आत्माको मिथ्यात्व-मलसे

मैला करते हैं , जिसके अन्तरंगमें मिथ्यात्व भरा हुआ है उस जीवको कभी भी पवित्रता नहीं हो सकती। इसलिए शरीर और पुण्य-पापके भाव इन सबको अशुचिरूप जानकर उनसे भिन्न परम पवित्र चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा पवित्रभाव प्रगट करना ही उत्तम दस धर्मोंकी सच्ची उपासना है।

इसप्रकार उत्तम शौच धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

સહજ ચિદાનંદ.

६–उत्तम संयम धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–१०)

दसलक्षण पर्वमें छठवाँ दिन उत्तम संयम धर्मका है। आत्मस्वभावकी श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक शुभाशुभ इच्छाओंको रोककर आत्मामें एकाग्र होना सो परमार्थ उत्तम संयम धर्म है। और जब ऐसा वीतरागभाव न हो सके तब, सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभरागको छोड़कर छहकायके जीवोंकी रक्षाका शुभराग होता है, उसे व्यवहारसंयम कहते हैं। श्री आचार्यदेव यहाँ संयम धर्मका वर्णन करते हैं :—

(आर्या)

जन्तु कृपार्दितमनससा मितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेन्द्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः ॥९६॥

जिनका चित्त दयार्द्र है और जो समितिमें प्रवर्तमान हैं, तथा इन्द्रिय-विषयोंका त्याग है ऐसे मुनियोंके संयम धर्म है, इसप्रकार महामुनि कहते हैं। जिनके आत्मभानपूर्वक वीतरागभावरूप अकषायी करुणा प्रगट हुई है उन्हें किसी प्राणीको दुःख देनेका विकल्प ही नहीं होता, इससे ऐसा कहा जाता है कि उनका चित्त दयार्द्र है। रागभाव सो हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने आत्मामें चैतन्यप्राणोंका घात होता है, उसमें स्वजीवकी दया नहीं है। वीतरागभाव ही सच्ची दया है, क्योंकि उसमें स्व या पर किसी जीवकी हिंसाका प्रभाव नहीं है। ऐसी वीतरागी दयासे जिनका चित्त भरा है उन मुनिवरोंसे उत्तम संयम धर्म है। और सम्पूर्ण वीतरागभाव न हो तथा रागकी वृत्ति उठे उस समय पंचसमितिमें प्रवर्तनरूप शुभभाव होता है उसे भी संयमधर्म कहते हैं। परमार्थसे तो वीतरागभाव ही धर्म है, राग है वह धर्म

नहीं है। इन्द्रिय-विषयोंका अथवा जीवहिंसाका विकल्प तो मुनिको होता ही नहीं, किन्तु देखकर चलना आदि प्रकारके शुभविकल्प आयें उन्हें भी तोड़कर स्वभावकी ओर उन्मुख होनेका प्रयत्न वर्तता है; जितने अंशमें विकल्पका अभाव किया उतने ही अंशमें वीतरागी संयमधर्म है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'अपूर्व अवसर'में कहते हैं कि :—

''संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अन्ते थाये निजस्वरूपमां लीन जो।''

इसमें उन्होंने ऐसी भावना की है कि—जब तक वीतरागभावसे स्वरूपमें स्थिर न हो सके तब तक, स्वरूपके लक्ष्यसे और जिनाज्ञाके अनुसार संयमके हेतुसे योगका प्रवर्तन हो। यहाँ पर जिनआज्ञाकी ओरका लक्ष्य है वह भी शुभभाव है। उसकी भावना नहीं है, किन्तु परकी ओरका वह विकल्प भी क्षण-क्षणमें घटता जाये और क्रमशः उसका अभाव होकर सम्पूर्ण वीतरागभावसे आत्मस्वरूपमें लीनता प्रगट होकर केवलज्ञान हो—वैसी भावना है। ऐसे वीतरागभावकी पहले पहिचान करना चाहिए। वीतरागभाव ही उत्तम धर्म है।

अब आचार्यदेव संयमकी दुर्लभता बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभूतस्तत्रापि जात्यादय—
स्तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिःस्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः।।९७।।

इस संसाररूपी गहन वनमें भ्रमण करते हुए जीवको मनुष्यत्व महा

दुर्लभ है। मनुष्यत्वमें भी उत्तम जाति इत्यादि मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति मिले तो भी श्री अरिहंत भगवानादि आप्त पुरुषोंके वचन सुननेका सुयोग प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यहाँ आचार्यदेव देशनालब्धिका नियम रखते हैं। जिस जीवको ज्ञानी पुरुषके पाससे शुद्ध आत्मतत्त्वके उपदेशकी प्राप्ति नहीं हुई, वह जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। इससे कहीं जीवकी पराधीनता नहीं होती है। जिस जीवके शुद्धात्मस्वभावको समझनेकी योग्यता हो उस जीवको ज्ञानीसे शुद्धात्माका उपदेश मिलता ही है। ज्ञानी पुरुषके उपदेशकी रुचि, बहुमान और विनयपूर्वक सुने बिना, मात्र शास्त्र पढकर अथवा अज्ञानीका उपदेश सुनकर कभी भी कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। जो जीव धर्म प्राप्त करता है उसे या तो वर्तमान साक्षात् ज्ञानीकी वाणीका योग होता है और कदाचित् वैसा योग न हो तो पूर्वमें जो ज्ञानीका समागम किया हो उसके संस्कार वर्तमानमें स्मरण होते हैं। जीवको ज्ञानीका उपदेश तो अनन्तबार मिला है, किन्तु जिज्ञासापूर्वक सत्का श्रवण कभी नहीं किया; इससे परमार्थतः उसने सत्का श्रवण कभी भी किया ही नहीं। जिज्ञासापूर्वक सन्त पुरुषोंकी वाणीका श्रवण महादुर्लभ है। इतना होने तक भी धर्म नहीं है, इतना होने पर तो व्यवहारशुद्धि हुई कहलाती है अर्थात् उसमें धर्मी होनेके लिए पात्रता प्रगट हुई कहलाती है। जिसमें इतना न हो वह जीव तो धर्म प्राप्त कर ही नहीं सकता। जो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रको मानते हैं वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप जाने और कुदेवादिकी मान्यताको छोड़ दे, तब गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है।

जिसे ज्ञानीके पाससे सच्चे धर्मका श्रवण महाभाग्यसे प्राप्त हुआ है उसे उसमें दृढ़ स्थित होना दुर्लभ है। ज्ञानमें यथार्थ निर्णय करना सो महादुर्लभ है। यदि सत्का श्रवण करे, किन्तु निर्णय न करे तो यथार्थ फल नहीं मिलता। यहाँ तक आनेके पश्चात् अब अपूर्व आत्मधर्म कैसे हो उसकी बात करते हैं।

अनन्तकालमें दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके, सत्धर्मका श्रवण प्राप्त करके और ज्ञानमें उसका निर्णय करके शुद्धात्माका अनुभव करना अपूर्व

है। जो पहले अनन्तकालमें कभी न किया हो ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना सो महान पुरुषार्थ है। यहाँसे अपूर्व धर्मका प्रारंभ है। जिसने एक समयमात्र भी सम्यग्दर्शन-ज्ञानकी प्राप्ति की है वह जीव अल्पकालमें अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ द्वारा करनेके पश्चात् भी वीतरागी संयमकी प्राप्ति सबसे दुर्लभ है।

यहाँ पर आचार्यदेव उत्कृष्ट बात बतलाना चाहते हैं। मोक्षका सीधा कारण वीतराग चारित्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी जहाँ तक वीतरागी संयमदशा प्रगट न करे वहाँ तक केवलज्ञान नहीं होता। इसलिए वीतरागी संयम धर्म परम प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानको गौणरूपसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। प्रवचनसारकी सातवीं गाथामें कहा है कि-'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र सो धर्म है। चारित्रदशाके बिना उस भवमें मोक्ष होता ही नहीं। आचार्यदेवके चारित्रदशा विद्यमान है, अधिकाँश वीतरागभाव प्रगट हुआ है, किन्तु वे ऐसे चारित्रकी भावना करते हैं कि उत्कृष्ट वीतरागी संयम प्रगट होकर उसी भवमें केवलज्ञान प्रगट हो जाये। इस कालमें साक्षात् केवलज्ञानकी प्राप्ति करा दे ऐसे उत्कृष्ट चारित्रका पुरुषार्थ नहीं है। श्रद्धाकी अपेक्षासे तो चौथे-गुणस्थानसे ही वीतरागभाव है; ऐसी सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना सो वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। भावसंयमके बिना उच्च स्वर्गपद अथवा मोक्षपदकी प्राप्ति नहीं होती। यदि वीतरागी संयमदशा प्रगट न कर सके तो उसकी प्रतीतिपूर्वक निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको स्थिर रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी धर्म आराधना है, और गृहस्थ भी वह कर सकते हैं।

''जो चारित्र है सो धर्म है'' ऐसा कहा है। वह कौनसा चारित्र ? लोग घरबार छोड़कर, कपड़े बदलकर निकल जाते हैं, वह कहीं चारित्र नहीं है, किसी प्रकारका वेष धारण करना अथवा कपड़े बिलकुल निकाल देना उसमें कोई चारित्र नहीं है। शुभराग भी चारित्र नहीं है; किन्तु शरीर और विकारसे भिन्न स्वभावका अनुभव करके उस स्वभावमें विचरना वह चारित्र है। ऐसा

चारित्र सम्यक् दर्शनपूर्वक ही होता है, और वही मुक्तिका कारण है।

जिसे ज्ञानी पुरुषों द्वारा सत्‌धर्मका श्रवण ही नहीं मिला उसके यथार्थ संयम नहीं होता। जिसने सच्चे देव-गुरुकी पहिचानसे गृहीत मिथ्यात्वका भी त्याग नहीं किया–ऐसा जीव, यदि बाह्यमें त्यागी दिगम्बर भी हो जाय तब भी उसे द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जाता, क्योंकि द्रव्यलिंग तो उस समय कहा जाता है, जब कि गृहीत मिथ्यात्वको टाले और व्यवहार पंचमहाव्रतका यथार्थ रीतिसे पालन करे। यह द्रव्यलिंग भी धर्म नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीवोंको साधुरूपसे माननेमें तो गृहीत मिथ्यात्व ही है, सच्चा गुरु कैसा होता है इसका भी उसे विवेक नहीं है। निमित्तरूपसे भी जिसने कुगुरु-अज्ञानीको स्वीकार किया है वह जीव स्वतः अज्ञानी-गृहीत मिथ्यात्वी है। ऐसा जीव, चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी वह आठवें स्वर्गके ऊपर जा सके वैसे शुभभाव ही उसके नहीं होते। क्योंकि जिसने निमित्तरूपसे ही कषाययुक्त देव-गुरु-शास्त्रको स्वीकार किया है उसे अपने भावोंमें इतनी कषायकी मन्दता करनेकी शक्ति ही नहीं है कि वह आठवें स्वर्गलोकसे ऊपर जा सके। जिसने गृहीत मिथ्यात्वका त्याग करके निर्दोष अकषायी देव-गुरु-शास्त्रको माना है उस जीवके उतनी कषायकी मन्दता हो सकती है कि वह नवमें ग्रैवेयक तक जा सकता है। जिसने यथार्थ निमित्तोंको नहीं जाना उस जीवके व्यवहार-सम्यग्दर्शन भी नहीं होता उसीप्रकार व्यवहारचारित्र भी नहीं होता। ऐसा गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव यदि नग्न-दिगम्बर हो जाए तब भी उसके द्रव्यलिंग भी यथार्थ नहीं है, तो फिर इसके संयमधर्म कैसा? वह तो मिथ्यादृष्टि है। धर्ममें सामान्यरूसे जीवका माप करनेकी एक यह रीति है कि :—जिसे धर्मी जीवका साक्षात् उपदेश न मिला हो (अथवा पूर्वभवके धर्मश्रवणके संस्कार भी जागृत न हुए हों) उस जीवके धर्म नहीं होता। यदि कोई जीव ऐसा माने कि मुझे धर्म प्राप्त हुआ है। तो यह निश्चित् करना चाहिए कि तू किस ज्ञानी-धर्मात्माके पाससे धर्मको समझा है? तुझे किस ज्ञानीका समागम हुआ है? क्या तू अपने आप स्वच्छन्दतासे धर्म समझा है? स्वच्छंदतासे धर्म नहीं समझा जा सकता। वैसे ही अज्ञानी जीवके पाससे भी धर्म नहीं समझा जा सकता। अपने आप शास्त्र वांचनेसे भी धर्म

नहीं समझा जा सकता। धर्मी जीवके पाससे ही धर्म समझा जा सकता है। जो जीव अपनेमें धर्म समझनेकी पात्रता प्रगट करता है, उस जीवके धर्मीका उपदेश ही निमित्तरूप होता है–ऐसा नियम है। यद्यपि निमित्त कुछ करता नहीं है, किन्तु धर्म प्राप्त करनेमें धर्मी जीवका ही निमित्त होता है, अधर्मीका निमित्त नहीं होता-ऐसा मेल है। इसलिए मुमुक्षु जीवोंको सत्-असत् निमित्तोंकी पहिचान करना चाहिए। पहले सत्समागम द्वारा आत्माकी पहिचान करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करे, उसके पश्चात् ही वीतरागभावरूप उत्तम संयम धर्म होता है। उत्तमक्षमादि दस धर्मोंके यथार्थ स्वरूपको पहिचानना चाहिए, उनके मूलस्वरूपको जाने बिना मात्र रूढि प्रमाणसे बोलने अथवा बाँचनेसे आत्माको कोई लाभ नहीं होता। दसलक्षण धर्मका स्वरूप जाने बिना उस धर्मका उद्यापन किस प्रकार करेगा? दसलक्षण धर्मका स्वरूप जैसा है उसे वैसा ही जानकर जितने अंशमें वैसा वीतरागभाव अपने आत्मामें प्रगट करे उतने अंशमें वास्तविक दसलक्षण पर्वका अपने आत्मामें उद्यापन किया है। जो धर्मके मूल स्वरूपको नहीं जानता और मात्र रागको ही धर्म मानता है उसने वास्तविक धर्मके पर्वका उद्यापन नहीं किया, किन्तु मिथ्यात्वका ही पोषण किया है। इसलिए धर्मके यथार्थ स्वरूपको सत्समागम द्वारा जानकर ऐसी मिथ्या–मान्यताओंको छोड़ना चाहिए।

यहाँ उत्तम संयम धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

७–उत्तम तप धर्म

(भद्रपद शुक्ला–११)

आज उत्तम तप धर्मका दिन है। भादव सुदी पंचमीके दिन 'उत्तम क्षमा धर्म' कहा जाता है और एकादशीके दिन 'उत्तम तप धर्म' कहलाता है, किन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पंचमीके दिन उत्तमक्षमाके अतिरिक्त दूसरे धर्म होते ही नहीं है, और एकादशीके दिन मात्र तपधर्म ही होता है। वास्तवमें तो आत्माके वीतरागीभावमें उत्तमक्षमादि दसों धर्म एक ही साथ हैं, पहले दिन पहला धर्म और दूसरे दिन दूसरा धर्म–ऐसा नहीं है। परन्तु एक ही साथ दसों धर्मोंका व्याख्यान न हो सकने के कारण क्रमशः एक-एक धर्मका व्याख्यान करनेकी पद्धति है। पंचमी–छठ इत्यादि दिन तो कालकी अवस्था है–जड़ है, उसमें कहीं उत्तमक्षमादि धर्म नहीं भरे हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्माके वीतरागभावमें उत्तमक्षमादि धर्म विद्यमान हैं, जिसे आत्माकी यथार्थ प्रतीति नहीं है उसके उत्तमक्षमादि एक भी धर्म नहीं होता। उत्तमक्षमादि धर्म सम्यक्‌चारित्रके भेद हैं। मुख्यतः यह धर्म मुनिदशामें होते हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्य उत्तमतप धर्मका वर्णन करते हैं :—

(आर्या)

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम्।।९८।।

सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान सहित जो उत्तम तप है वह संसार-समुद्रसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टिसे वस्तुस्वरूपको जानकर उसमें लीन होने पर इच्छाएँ रुक जाती हैं–वह तप

धर्म है; उससे कर्मका नाश होता है। जिस भावसे शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है वह वास्तवमें तप नहीं है, किन्तु जिस भावसे ज्ञान-दर्शनकी शुद्धि प्रगट हो और कर्मका नाश हो वह तप है, यह तप आत्माका वीतरागी चारित्र है। निश्चयसे तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकारका तप है। ऐसे निश्चयतपकी पहिचानपूर्वक जहाँ पूर्ण वीतरागभाव न हो वहाँ शुभरागरूप व्यवहार तप होता है। उस व्यवहार तपके सामान्यरूपसे दो प्रकार हैं। एक बाह्य तप और दूसरा अभ्यंतर तप। तथा विशेषरूपसे–(१) अनशन, (२)अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्त-शय्यासन, (६) कायक्लेश, (७) प्रायश्चित, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) व्युत्सर्ग, (११) स्वाध्याय और (१२) ध्यान–यह बारह भेद हैं। उसमें प्रथम छह प्रकार बाह्य तपके भेद हैं और अन्तिम छह प्रकार अभ्यंतरतपके भेद हैं। यह ध्यान रहे कि–यह समस्त प्रकारके तप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पश्चात् ही होते हैं। सम्यग्दर्शन बिना कायक्लेश अनशन अथवा स्वाध्याय आदि करे उसे निश्चयसे या व्यवहारसे किसी भी प्रकार तप नहीं कहा जा सकता। उत्तम तप सम्यक्चारित्रका भेद है, सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होता। पुण्य या पापरूप कोई भी इच्छा आत्मस्वभावमें नहीं है। इच्छारहित निर्मल चैतन्यस्वरूपको जानकर उसके अनाकुल आनन्दके अनुभवमें लीन होने पर वीतरागभावसे आत्मा शोभित हो जाता है, इसका नाम तप है। ऐसा तप मुक्तिका कारण है।

श्री आचार्यदेव तपकी महिमा बतलाते हैं :—

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौधो हठा—
तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः।
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम्।।९९।।

आचार्यदेव कहते हैं कि विषय-कषायरूपी उद्यत चोरोंका समूह दुर्जय है, तो भी तपरूपी योद्धाके पास उसका कुछ भी वश (जोर) नहीं

चलता। यदि मुनिवर वीतरागभाव द्वारा स्वरूपमें स्थिर हों तो विषय-कषायरूपी चोरोंका सहज ही नाश हो जाता है। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नोंको साथ लेकर मोक्षमार्गमें चलनेवाले मुनियोंके तपरूपी रक्षक साथमें न हो तो विषय-कषायरूपी चोर उसकी लक्ष्मीको लूँट लेते हैं। यदि अल्प राग भी रह जाए तो उससे रत्नत्रय सम्पत्ति लूँटती है और मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् भी विषय-कषायोंको जीतना दुर्लभ है, किन्तु मुनिवर परद्रव्योंसे पराङ्मुख होकर जब स्वरूपमें स्थिर होते हैं उस समय वे विषयकषाय क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले मुनिओंसे भगवान कहते हैं कि हे मुनि! विषय कषायरूपी चोरोंसे अपनी रत्नत्रयरूपी लक्ष्मीको बचानेके लिए सम्यक् तपरूपी योद्धाको सदा साथ रखना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मलक्ष्मीको साथ लेकर मोक्षकी ओर गमन करते हुए स्वभावकी स्थिरताके पुरुषार्थको साथ रखनेसे, बीचमें कोई विघ्न करनेके लिए समर्थ नहीं है।

अब, आचार्यदेव तपके लिए प्रेरणा करते हैं :—

(मन्दाक्रान्ता)

मिथ्यात्वादेर्यदिहा भवति दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदकणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलकृच्छ्र लब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलसि तदहो का क्षतिजीव ते स्यात्॥१००॥

यदि कोई जीव उत्तम तपधर्ममें निरुत्साही होता हो और खेदसे दुःखी होता हो और उससे तपको ही दुःखरूप मानकर उसे छोड़ रहा हो, तो उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जैसे समुद्रके पानीके पास पानीके बिन्दुओंकी गिनती नहीं है, वैसे ही सम्यक् तपके अनादरसे मिथ्यात्वको लेकर जो अनन्त दुःख होगा उसकी अपेक्षामें तपके दुःखकी कोई गिनती नहीं है। तप चारित्रधर्म है, और वह परम आनन्दका कारण है, वह किंचित् भी दुःखका कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ जो राग

रह जाता है उसका अल्प दुःख है–ऐसा जानना चाहिए। यहाँ तो जिसे चारित्रदशामें अल्प दुःख होता है और निरुत्साही बन जाता है–उसे समझानेके लिए कहते हैं कि हे जीव! इस तपमें तो तुझे बहुत ही अल्प दुःख है, और मिथ्यात्व-अव्रत आदिके सेवनसे नरकमें जायेगा वहां तो अनन्त दुःख है, तथा अनन्त प्रतिकूलता है। उसके समक्ष तो तेरे तपकी प्रतिकूलताकी कोई गिनती नहीं है। तथापि तू तपसे भयभीत क्यों होता है? अहो! सादि-अनन्त परमानन्दके कारणभूत उत्तमतपके धारण करनेमें तुझे क्या हानि है? सम्यक् तपका पालन करते हुए बाह्यमें प्रतिकूलता आये उससे दुःखी न हो, सम्यक् तप तुझे किंचित् दुःखका कारण नहीं है, किन्तु मोक्षदशाके परम सुखका कारण है।

उत्तम तप तो वीतरागभाव है और वीतरागभावमें दुःख नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीवके आचरण दुःखरूप हैं। ऐसा होने पर भी यहाँ धर्मात्मा मुनिके उत्तम तपमें अल्प दुःख क्यों कहा? उसका कारण यह है कि किसी मन्द पुरुषार्थी जीवको प्रतिकूलता इत्यादिमें लक्ष्य जाने पर खेद होता हो और कठिन मालूम पड़ता हो इससे किंचित् असन्तोष हो जाता हो तो उस असन्तोषके कारण किंचित् दुःख होता है। इस अपेक्षासे-उपचारसे तपमें अल्प दुःख होता है। वास्तवमें तपका दुःख नहीं, किन्तु खेदका दुःख है। खेदभाव तप नहीं है और तपमें खेद नहीं है। अल्प क्लेशको मुख्य करके रत्नत्रयसहित उत्तम तप धर्ममें उत्साहको हीन करना ठीक नहीं है।

धर्मात्मा जीव मुनिदशामें छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें रमण करते हों और संल्लेखना धारण की हो, तथापि किसीको अशक्तिके कारण किंचित् क्लेश हो जाये और पानीकी वृत्ति उठे फिर भी अन्तरंगमें भान है कि यह मेरी वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, यह जो वृत्ति हुई यह चारित्रका भाग नहीं, किन्तु दोष है। विशेष सहनशीलता नहीं है और दुःख होता है उसका आरोप करके तपमें अल्प दुःख कहा है। तथा चारित्र स्थिर रखनेके लिए कहा है कि इस समय किंचित् दुःखसे डरकर यदि

चारित्रका ही अनादर कर देगा तो मिथ्यात्व होगा और उसके फलमें जो अनन्त-दुःख मिलेगा उसे तू कैसे सहन करेगा? इस समय अल्प दुःख सहन करेगा तो सम्यक्तपके फलमें अनन्त मोक्षसुखको प्राप्त करेगा।

वास्तवमें जो चारित्रको दुःखका कारण मानते हैं वे अज्ञानी हैं। जो लोग उपवासको एवं चारित्रको दुःख-दायक मानते हैं उनके सम्यक्दर्शन भी नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्माकी प्रतीति करके, और उसके आनन्दानुभवमें लीन हो जाने पर इच्छाओंका नाश हो जाये–वह उत्तम तप धर्म है। आचार्यदेव ऐसे उत्कृष्ट तपके लिए प्रेरणा करते हैं।

यहाँ उत्तम तप धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

સહજ ચિદાનંદ.

८–उत्तम त्याग धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–१२)

दस धर्मोंमें आज उत्तम त्याग धर्मका दिन है। उसका वर्णन करते हैं :—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दायते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुशादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
आकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ।।१०१।।

सम्यक्‌प्रकारसे श्रुतका व्याख्यान करना और मुनि इत्यादिको पुस्तक, स्थान तथा पिछी-कमण्डलादि संयमके साधन देना-वह धर्मात्माओंका उत्तम त्याग धर्म है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूं, मेरा कुछ भी नहीं है'–ऐसे सम्यक्‌ज्ञानपूर्वक, अत्यन्त निकट शरीरमें भी ममत्वका त्याग करके शुद्धस्वरूपमें रमणता प्रगट करने पर मुनिओंके सर्व परभावोंका त्याग हो जाता है। आत्माके भावपूर्वक शरीरादि समस्त पदार्थोंके ममत्वका त्याग किया, उसमें उत्तम आकिंचन्य धर्म भी आ जाता है। आचार्यदेवने एक ही श्लोकमें दो धर्मोंका वर्णन किया है।

आत्मप्रतीतिपूर्वक मुनिदशा प्रवर्तमान हो, किन्तु अभी पूर्ण स्थिरता न होती हो और विकल्प उठे, उस समय मुनिगण श्रुतकी–शास्त्रकी यथार्थ रीतिसे व्याख्या करे, उसे यहां त्यागधर्म कहा है। वास्तवमें शास्त्र बाँचनेकी क्रियाको या रागको धर्म नहीं कहा, किन्तु उस समय अन्तरंगमें वीतरागस्वभावका मंथन होने पर जो राग का त्याग होता है वही उत्तम

त्याग है। श्रुतकी व्याख्या करते समय वाणी या विकल्प हो वह कहीं धर्म नहीं है। श्रुतका रहस्य तो आत्मस्वभाव है, वीतरागभाव ही सर्वश्रुतका प्रयोजन है। विकल्प होने पर भी उस समय वीतरागी ज्ञानस्वभावके आश्रयसे सम्यक्श्रुतकी वृद्धि होती है, और राग टलता जाता है–यही धर्म है। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा व्याख्यान करते हुए अर्थात् आत्मस्वभावमें विपरीतता न हो इसप्रकारसे सम्यग्ज्ञानका मनन करने पर मुनियोंको उत्तम त्याग धर्म होता है। गृहस्थोंकी भी आत्मस्वभावके लक्ष्यसे श्रुतका मनन-स्वाध्याय करनेसे श्रुतज्ञानकी निर्मलता बढ़ती है और राग नष्ट होता है, उससे उनके भी उतने अंशमें त्यागधर्म है। मिथ्यादृष्टिके तो मात्र अधर्म ही होता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् ही साधक जीवके वीतरागभाव हुआ है उतना वास्तवमें धर्म है, और जो शुभराग रहा वह वास्तविक धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्मात्मा जीवके उस रागका निषेध विद्यमान है इससे उपचारसे उसके धर्म कहा जाता है।

श्रुतकी व्याख्याके शब्द आत्माके नहीं हैं, आत्मा शब्दोंका कर्ता नहीं है, और जो शुभराग होता है वह भी आत्माका स्वभाव नहीं है। ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुद्धस्वभावके अनुभवमें लीन न रह सकें तब धर्मात्मा जीवोंके श्रुतके व्याख्यान आदिका शुभराग होता है, उस समय अशुभराग नहीं होता इस अपेक्षासे वह व्यवहारसे त्याग है, और ज्ञानका ज्ञानमें जितना मनन होता है उतना परमार्थत्याग है। परमार्थसे तो जो श्रुतज्ञान है वह आत्मा ही है, इससे आत्मस्वभावका मनन रहे वही निश्चयसे श्रुतकी व्याख्या है और यही उत्तम त्यागधर्म है। त्यागके नव प्रकार या उनचास प्रकार तो व्यवहारसे है। शुभरागके समय किस-किस प्रकारके निमित्त होते हैं और रागका नाश करके ज्ञायकस्वभावमें लीनता होकर कैसे-कैसे प्रकारके निमित्तों परसे लक्ष्य छूट जाता है–यह बतानेके लिए बाह्य भेदोंसे वर्णन है। जो जीव मूलभूत वस्तुस्वरूपको नहीं समझते वे भंग-भेदके कथनमें अटक जाते हैं।

प्रश्न :–आत्मा वचन तो बोल नहीं सकता, फिर वहाँ मुनिजन श्रुतकी व्याख्या करते हैं–ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर :–उपदेशमें तो निमित्तकी अपेक्षासे कथन होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, ऐसा भेदज्ञान रखकर उनके अर्थको समझना चाहिए। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव रागरहित है; जो राग है वह ज्ञान नहीं है, ज्ञान और राग भिन्न हैं, रागके कारण वचन बोलनेकी क्रिया नहीं होती। बाह्य वचन तो निमित्तमात्र हैं और उन वचनोंकी ओरका राग भी यथार्थ त्यागधर्म नहीं है, किन्तु उस समय स्वभावके आश्रयसे जो ज्ञानसामर्थ्य बढ़ता जाता है वही त्याग है। वहाँ रागका त्याग हो जाता है। यथार्थ भेदज्ञानके बिना धर्माराधन नहीं हो सकता और सच्चा क्षमाभाव नहीं होता। मिथ्यात्व ही सबसे महान क्रोध है, सम्यग्दर्शन द्वारा उस मिथ्यात्वको नष्ट किये बिना क्षमाधर्म प्रगट नहीं होता।

अनादिकालसे अज्ञानभावके कारण अपने आत्मस्वभाव पर स्वतः ही क्रोध किया है, वह क्रोध दूर होकर क्षमा किस प्रकार हो ? उसकी बात कही जाती है। क्षमा हो आत्मस्वभावको! अर्थात् पुण्य-पापरहित स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागभाव प्रगट करूँ और रागके एक अंशसे भी स्वभावको खण्डित न करूँ-इसका नाम यथार्थ क्षमा है। जितना राग हो उतना अपराध है, और जो रागको आत्माके हितका कारण माने वह तो आत्मस्वभाव पर अपार क्रोध करनेवाला है।

धर्म-ग्रन्थ आदिके दान करनेको गृहस्थका त्यागधर्म कहा है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मात्मा जानता है कि बाह्यमें पुस्तकादि लेने-देनेकी क्रिया आत्माकी नहीं है और अन्तरंगमें 'वीतराग शासन जयवन्त रहे, साधक-धर्मात्मा विद्यमान रहे और सम्यक्श्रुतज्ञानकी वृद्धि हो'—ऐसी भावनारूप जो विकल्प हैं वह भी राग है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अन्तरंगमें परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभावकी प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञानकी निर्मलता बढ़ती है और राग दूर होता है वह त्याग है, और वही धर्म है। परमार्थसे तो ज्ञान ज्ञानमें स्थित हुआ वही त्याग है, आत्माने रागको छोड़ दिया–यह भी

उपचारसे है। पर्यायमें राग था और उसे छोड़ा, यह कथन व्यवहारनयका-पर्याय अपेक्षाका है। स्वभावसे न तो आत्माने राग किया है और न उसे छोड़ा भी है। राग आत्माके स्वभावमें था ही नहीं, तब फिर उसका त्याग किस प्रकार कहा जाए ? राग तो पर्यायदृष्टिमें था, जहाँ पर्यायदृष्टि ही दूर हो गई और स्वभावदृष्टि हुई वहाँ राग है ही नहीं। इससे आत्माको रागका त्याग करनेवाला कहना सो उपचार कथन है। फिर जिस समय राग होता है उस समय तो उसका त्याग नहीं होता, किन्तु आत्मा जब स्वभावमें एकाग्र रहता है, तब रागकी उत्पत्ति ही नहीं होती; इससे 'रागका त्याग किया' ऐसा कहा जाता है। स्वभावकी लीनतामें रहते हुए रागकी उत्पत्ति ही नहीं हुई उसीका नाम रागका त्याग है। त्रैकालिक स्वभाव रागरहित ही है–ऐसी श्रद्धा होने पर श्रद्धामेंसे समस्त रागका तो त्याग हो ही गया। रागरहित त्रैकालिक स्वभावके अनुभव बिना पर्यायमेंसे रागका त्याग नहीं हो सकता। जो रागको अपना स्वरूप मानता हो वह जीव रागका त्याग कर ही नहीं सकता।

श्री समयसारजी गाथा ३४ में ज्ञानको ही प्रत्याख्यान कहा है, अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूपमें परिणमित हो गया और रागादिरूप परिणमित नहीं हुआ, वही त्याग है। आत्माको परभावके त्यागका कर्तृत्व तो नाममात्र है वह स्वतः ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्यको पर जानो, पश्चात् परभावोंका ग्रहण नहीं हुआ वही त्याग है। इस प्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। यह निश्चयसे त्यागका स्वरूप है। मात्र ज्ञानस्वभावमें स्थिर होने पर राग होता ही नहीं, इससे वह ज्ञान स्वतः ही रागके त्यागस्वरूप है। आत्माने रागका त्याग कर दिया, यह कहना भी व्यवहार है।

और यहाँ पद्मनन्दिमें तो कहा है कि मुनियोंको पिछी-कमण्डल, शास्त्रादि देना वह उत्तम त्याग है, सम्यक्श्रुतकी व्याख्या करना सो उत्तम त्याग है,–यह व्याख्या व्यवहारसे है। सम्यग्दृष्टि जीवके जब आत्मस्वभावमें स्थिरता नहीं रहती उस समय किस प्रकारका शुभराग होता है, वह बतलाया है और उस रागके समय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र विद्यमान है उनका उपचार करके शुभरागको त्यागधर्म कहा है। वास्तवमें तो अंतरंगमें ज्ञानका मंथन होने पर जो वीतरागभावकी वृद्धि होती है वही त्याग है। पुस्तक देने-लेनेकी

अथवा बोलनेकी क्रियाका कर्ता वास्तवमें आत्मा है–ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसके परका अहङ्कार है इसलिए उसके सच्चा त्याग नहीं होता। ज्ञानिओंको स्वभावके बहुमानके बलसे ज्ञानकी एकाग्रतामें वृद्धि हुई, इससे उस समय बाह्यमें होनेवाली शास्त्रादि लेन-देनेकी क्रियामें उपचार करके उनके त्यागधर्म कहा है। बाह्यक्रियाके समय एवं रागके समय ज्ञानीका अन्तरंग अभिप्राय क्या है–वह समझना चाहिए। यदि रागसे भिन्न आत्माके ज्ञानस्वभावका विश्वास करे तो ज्ञानीका अन्तरंग-हृदय समझमें आये। जो स्वतः रागादिके साथ ज्ञानस्वभावको एकमेक मानता है उसे ज्ञानीके हृदयकी यथार्थ पहिचान नहीं होती। ज्ञानीका ज्ञान रागसे और जड़की क्रियासे भिन्न है। लोगोंकी भाषामें तो बाह्यसे ऐसा कहा जाता है कि यह लिया और यह दिया, किन्तु ज्ञानी वास्तवमें किसी भी बाह्य क्रियामें नहीं हैं, रागमें भी नहीं हैं, ज्ञानी तो चैतन्यस्वभावमें ही हैं, ऐसा भेदज्ञान अपने आत्मामें करना ही समाधान है। यदि स्वतः भेदज्ञान करे तो यह जान ले कि ज्ञानी क्या करते हैं ? कोई ऐसा कहे कि यह तो दूसरोंके निरुत्तर बनानेका साधन है-तो कहते हैं कि भाई ! यह निरुत्तर करनेके लिए नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है। उलटा तुझसे ऐसा कहा है कि प्रथम तू अपने ज्ञानको रागसे भिन्न जान, अर्थात् तू स्वतः ज्ञानी हो, तो तुझे ज्ञात हो कि ज्ञानी क्या करते हैं ? ज्ञानी ज्ञानभाव ही करते हैं, जो राग होता है उसे स्वभावरूपसे स्वीकार नहीं करते, इससे वे वास्तवमें रागको ग्रहण नहीं करते, किन्तु त्यागते हैं। ऐसे वस्तुस्वरूपका ज्ञान करना ही अनन्तकालके मिथ्यात्वको त्याग करनेका उपाय है। बाह्यदृष्टि जीव बाह्यके त्यागको देखते हैं; किन्तु आत्मस्वभावकी यथार्थ पहिचान करने पर धर्मात्माके मिथ्यात्वका ऐसा अपूर्व त्याग होता है कि जो अनन्तकालमें भी नहीं हुआ हो; वे उसे नहीं देखते। ज्ञानी परकी क्रियाके कर्ता कभी होते ही नहीं, वे तो अपने ज्ञानका ही कार्य करते हैं। ज्ञानी रागको धर्म नहीं मानते, ज्ञानमें स्थिर होनेसे रागका अभाव होता है, उसका नाम वास्तवमें उत्तम त्याग धर्म है। अहो ! जैनशासनमें ज्ञान और रागकी भिन्नता स्पष्ट ही कही है, किन्तु अज्ञानी उन्हें भिन्न न देखें तो इससे क्या ?

यह दस धर्मोंका कथन आत्माकी चारित्रदशा बतलानेके लिए है।

चारित्रदशा सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होती। जिसके सम्यग्दर्शन न हो उसे यह समझमें नहीं आयेगा कि चारित्रदशा कैसी होती है और शास्त्रमें व्यवहारके कथनोंका आशय भी वह नहीं समझ सकेगा।

भाद्रपद शुक्ला १२ (द्वितीय)

दो द्वादशी होनेसे आज उत्तम त्यागधर्मके वर्णनका दूसरा दिन है। यह सब धर्म संवर धर्मके भेद हैं। मूल तो एक ही प्रकारका वीतरागभावरूप संवर है, किन्तु रागके निमित्तसे, उपचारसे दस भेद कहे गये हैं। जितनी वीतरागता उतना ही धर्म है। किन्तु किस प्रकारके विकल्पसे हटकर वीतरागभावमें एकाग्र होता है ? अर्थात् वीतरागभावके पूर्व किस प्रकारका विकल्प था, वह बतलानेके लिए यह दस भेद हैं। यदि क्षमा सम्बन्धी विकल्पको तोड़कर वीतरागस्वभावमें स्थिर हो तो उसे 'उत्तम क्षमा धर्म' कहा है, इस भाँति अनेक प्रकारसे रागरहित आत्माको समझे और रागके अनेक प्रकारोंको जाने तो ज्ञानकी दृढ़ता हो। रागरहित चैतन्यस्वभावकी श्रद्धापूर्वक आराधना करते हुए बीचमें प्रमाद होनेसे विकल्प उठते हैं, उस प्रमादको दूर करके स्वभावके अवलम्बनसे विशेष स्थिरता करना, उसे यहाँ पर उत्तम त्याग धर्म कहा है। ऐसा त्याग मुख्यतः सातवें गुणस्थानसे होता है और गौणरूपसे तो चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है।

मुनिदशामें स्वभावकी एकाग्रतासे अनन्तानुबन्धी आदि तीन प्रकारके कषायका अभाव हो गया है, उतना त्याग तो सामान्यरूपसे है ही, उसकी यहाँ पर बात नहीं है, किन्तु मुनिको विकल्प उठने पर छट्ठा गुणस्थान आये उस समय विशेष प्रमाद न होने देना और उस विकल्पको तोड़कर वीतरागी एकाग्रता प्रगट करना–ऐसे विशेष त्यागके लिए यह बात है। जितनी दशा प्रगट हुई है वहींके वहीं प्रमादमें न रुककर, स्वरूपस्थिरताके बलसे प्रमादका परिहार करके आगे बढ़नेके लिए उन दस प्रकारके उत्तम धर्मोंका उपदेश है। यहाँ पर बाह्यके त्यागकी बात ही नहीं है, मुनिके बाह्यमें समस्त परिग्रहका त्याग होता है–ऐसे बाह्यत्यागकी बात नहीं है; अन्तरंगमें मुनिके अधिकांश विभाव दूर हो गया है, उतना त्यागधर्म तो प्रगट हुआ है; किन्तु

उसकी यहाँ बात नहीं है। स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी मुनिके जो शुभविकल्प उठते हैं उन्हें दूर करके, विशेष ज्ञान-ध्यानमें आगे बढ़े–वह उत्तम त्याग धर्म है।

मुनिओंके चारित्रदशा विद्यमान रहती है और बाह्याभ्यंतर त्याग होता है–ऐसी बात त्याग धर्मके वर्णनमें नहीं की है; क्योंकि यहाँ पर तो जिन मुनिओंको विकल्प उठता है उनकी अपेक्षासे कथन है अर्थात् मुनिदशामें जो विकल्प उठता है उसका त्याग करके वीतरागभाव प्रगट करनेकी बात है। तथापि यहाँ निमित्तकी अपेक्षासे कथन है; इससे कहा गया है कि मुनि जो श्रुतका व्याख्यान करते हैं सो उत्तम त्याग धर्म है। वास्तवमें तो वाणी जड़ है, शास्त्रके शब्द जड़ हैं, और जो व्याख्यानका विकल्प है सो राग है, उसमें कहीं त्यागधर्म नहीं है। किन्तु उस समय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वभावकी भावनाके बलसे जो ज्ञानकी एकाग्रतामें वृद्धि होती है और रागका नाश होता है, वही त्याग धर्म है।

शास्त्रका व्याख्यान करनेको उत्तम त्याग कहा है, उसका क्या आशय है ? शास्त्रका प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व शास्त्रोंके सारभूत शुद्धात्माको पहिचानकर वीतरागभाव प्रगट करना ही परमार्थसे श्रुतका व्याख्यान है, और वही उत्तम त्याग है। मात्र शास्त्रोंकी व्याख्या तो अज्ञानी भी करते हैं, अभव्य जीव ग्यारह अंगोंका पठन कर ले और शास्त्रोंका व्याख्यान करे तथापि उसके अंशमात्र भी त्यागधर्म नहीं होता। इसलिए मात्र शास्त्रकी बात नहीं है, किन्तु शुद्धात्माकी भावनाके बलसे निश्चयचारित्रदशाकी वृद्धि होती है और राग नष्ट होता है वह धर्म है। यहाँ पर बाह्य निमित्तसे कथन किया है।

मुनिवरोंको शास्त्रादि देना, उसे भी त्याग धर्म कहा है। कोई मुनि स्वतः कोई नवीन शास्त्र पढ़ रहा हो और किसी अन्य मुनिको वह शास्त्र पढ़नेकी उत्कंठा हो तो उसीसमय उसे पढ़नेके लिए दे देते हैं; स्वयं शास्त्रकी ओरके विकल्पको तोड़कर स्वभावमें स्थिर हो जाते हैं। स्वभावके बलसे विकारका जो अस्वीकार है उसका नाम त्याग है। वहाँ मुनिके चारित्रदशाकी वृद्धि होती है।

मुनिओंके शास्त्र पढ़नेका आग्रह नहीं है–विकल्पकी पकड़ नहीं है; किन्तु वीतरागभावकी भावना है। मुनि शास्त्रका स्वाध्याय कर रहे हों और दूसरे मुनिको वह शास्त्र देखकर हर्ष हो, तो तुरन्त ही पहले मुनि वह शास्त्र उन्हें पढ़नेके लिए देते हैं। किन्तु 'इस नये शास्त्रमें क्या विषय हैं, वे पहले मैं देख लूं, और पश्चात् उन्हें दूं' ऐसा आग्रह नहीं होता; क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन तो वीतरागभाव है, और स्वतः भी शास्त्रकी ओरका विकल्प तोड़ना ही चाहते हैं। अन्तरंगमें स्वभावके बलसे पढ़नेकी वृत्तिका वेग नष्ट कर देते हैं, उसका नाम उत्तम त्याग धर्म है। श्रुतकी प्रभावना हो, अर्थात् वास्तवमें तो अपने आत्मामें स्वभावके आश्रयसे रागको नष्ट करके ज्ञानकी वृद्धि हो— ऐसे भावसे जो शास्त्रकी ओरके विकल्पका नाश कर देते हैं उन मुनिको उत्तम त्याग धर्म है। शास्त्र पढ़नेमें भी ज्ञानकी वृद्धिका और रागको कम करनेका प्रयोजन था, वही प्रयोजन शास्त्रकी वृत्तिको तोड़कर सिद्ध किया। स्वभावमें लीन होनेसे शास्त्रकी ओरकी वृत्तिको तोड़कर अनन्त केवलज्ञानको निकट लाते हैं। स्वभावकी प्रतीति पूर्वक गृहस्थोंके भी अपनी भूमिकानुसार उत्तम त्याग धर्म होता है।

यहाँ उत्तम त्याग धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

૯–उत्तम आकिंचन्य धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–१३)

(शिखरणी)

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः।
तपस्यंतोन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतो
सहायाः म्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतरा॥१०२॥

जिनका मोह नष्ट हो गया है और अपने आत्महितमें निरन्तर लीन हैं तथा पवित्र चारित्रको धारण करनेवाले हैं और जो गृहादिको त्यागकर मोक्षके अर्थसे तप कर रहे हैं–ऐसे मुनि विरले ही होते हैं। जो अपने हितके लिए तप कर रहे हैं उसीप्रकार अन्य तपस्वी मुनिओंको शास्त्रादि दान करते हैं और उनके सहायक हैं—ऐसे योगीश्वर जगतमें दुर्लभ हैं।

मुनिओंके शास्त्रका अगाध ज्ञान हो तो भी उसका उनके ममत्व अथवा अभिमान नहीं होता। दूसरे मुनियोंको ज्ञानका उपदेश देनेमें वे किंचित् संकोच नहीं करते; ''मैं अपना सारा रहस्य इससे कह दूँगा तो यह मुझसे आगे बढ़ जायेगा'' ऐसे ईर्ष्याभावका विकल्प भी मुनिके नहीं होता। अन्य कोई अपनेसे आगे बढ़कर अपनेसे पूर्व केवलज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें अनुमोदना है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंको भी ज्ञान, चारित्रादि गुणोंमें जो अपनेसे बढ़ा हुआ हो उसके प्रति अनुमोदना और बहुमान होता है। विकल्पके समय यदि अधिक गुणवानके प्रति अनुमोदना न हो तो वैसे जीवको गुणकी रुचि नहीं है। मुनिजन अन्तरंगमें किंचित् भी छिपाये बिना सरलतासे पात्र जीवको सर्व रहस्यका उपदेश करते हैं। उपदेशके विकल्पको

भी अपना नहीं मानते। जिनके शरीरका और विकल्पका ममत्व नहीं है तथा आहार एवं उपदेशादिके विकल्पको तोड़कर वीतरागस्वभावमें स्थित हैं— ऐसे उत्तम आकिंचन्य धर्ममें रत मुनिगण इस संसारमें धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करनेकी पूरी तैयारी है, बारह अंगका ज्ञान हो तो भी उसमें आसक्ति नहीं है; अभी किसी समय किंचित् उपदेशादिकी वृत्ति उठती है उसे छोड़कर स्वभावोंमें एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करनेके कामी हैं–ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं। उपदेशादिमें किसी उच्च बातको अथवा महिमावन्त न्यायको मुनि छुपाते नहीं हैं, ज्ञानदान देनेसे कहीं ज्ञान कम रह जाता हो ऐसा नहीं है, किन्तु उलटे अपने ज्ञानस्वभावकी भावनाका मंथन करनेसे ज्ञान एकदम विकसित हो जाता है। लोक-व्यवहारमें भी जिसे अपने पुण्यका विश्वास होता है वह जीव दानमें लक्ष्मी आदि खर्च करनेमें सहजमें ही उदार होता है; दानमें अधिक लक्ष्मी खर्च करनेसे मेरी लक्ष्मी घट जायेगी, ऐसी शंका उसे नहीं होती। वैसे ही लोकोत्तर मुनिवरोंको भी अपने पुरुषार्थकी प्रतीति है कि मेरे ज्ञानकी वृद्धि ही है। वे मुनि दूसरोंको शास्त्रज्ञान देनेमें किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं करते। उनको उपदेशकी वृत्तिमें अटकनेकी भावना नहीं है, किन्तु वृत्तिको तोड़कर स्वभावमें ही एकाग्र रहकर पूर्ण ज्ञानकी भावना है–ऐसे मुनिवरोंके उत्तम आकिंचन्य धर्म होता है। आकिंचन्य अर्थात् परिग्रह रहितता। ममता ही परिग्रह है। ममतारहित वीतरागभाव सो उत्तम आकिंचन्य धर्म है। भेदज्ञान द्वारा परमें भिन्न स्वभावको जाने बिना परके ऊपरका ममत्व दूर नहीं होता और धर्म भी नहीं होता है।

श्री मुनिओंके आकिंचन्य धर्मको अभी विशेषरूपसे समझाते हैं :—

(शिखरणी)

परंमत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञा भंगो भवति च हठात् कल्मषवृषेः॥१०३॥

श्रुतके रहस्यको जाननेवाले वीतरागी मुनिओंने समस्त परवस्तुओंको अपने आत्मासे भिन्न जानकर उनका त्याग कर दिया है; इससे उनके उत्तम आकिंचन्य धर्म है। यदि कोई पूछे कि शरीर और पुस्तकादि तो निकट हैं—उनका त्याग क्यों नहीं किया ? उसका उत्तर—वह भी त्याग समान ही है। शरीरादिमें ममत्वका अभाव होनेसे वे नहीं होनेके समान ही हैं। आयुकर्म नाश हुए बिना शरीर नहीं छूटता, किन्तु शरीरके ऊपरका ममत्व छूट सकता है। अरिहन्तोंके भी बाह्यमें शरीर तो विद्यमान है, किन्तु उनके ममत्वका नितांत अभाव है इससे उन्हें शरीरका भी परिग्रह नहीं है। मुनि यदि हठपूर्वक शरीरको छोड़े तो जिनाज्ञाका भंग हो। हठसे प्राणत्याग करना तो हिंसा है।

देहका संयोग छूटना मुनिके आधीन नहीं है। वस्त्रादिका राग छूट जाने पर बाह्यमें वस्त्रादि भी छूट जाते हैं,–ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु वस्त्रकी भांति, शरीरके ऊपरका ममत्व छूट जाने पर शरीर भी छूट जाये–ऐसा नियम नहीं है। देह तो परमाणुओंका संयोग है, उसका वियोग आयुकर्मकी स्थिति पूर्ण होने पर होता है, किन्तु उसका ममत्व छोड़कर निर्मोही चैतन्यस्वभावमें जागृत रहना सो उत्तम आकिंचन्य धर्म है। मुनिओंके शरीर, वाणी, पुस्तकादि विद्यमान होने पर भी उनके प्रति वे किंचित् ममत्व नहीं रखते इससे उनके उत्तम आकिंचन्य धर्म है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करे कि मुनिओंके जैसे शरीरादि बिना ममत्व होते हैं वैसे ही बिना ममत्व वस्त्र भी माने जायें, तो इसमें क्या आपत्ति है ? उत्तर —शरीर, आहार, पुस्तक इत्यादि तो संयमके निमित्त हैं, वस्त्र संयमके निमित्त नहीं है; वस्त्र तो रागके—असंयमके निमित्त हैं। बुद्धिपूर्वक वस्त्र रखे–वस्त्रकी ओरका विकल्प हो तथापि कोई कहे कि मुझे उसके प्रति राग नहीं है, तो उसकी बात मिथ्या है। वस्त्रका संयोग कब निर्ममत्वरूपसे गिना जाए ? जब मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त आत्मध्यानमें लीन हो एवं बाह्य पदार्थोंका लक्ष्य ही न हो उस समय अन्य कोई आकर उनके ऊपर वस्त्र डाल जाये तो उस समय परीषह माना जाता

है और उस समय मुनिको वह वस्त्र रागका नहीं, किन्तु ज्ञानका निमित्त है। उस वस्त्रके साथ ज्ञेय-ज्ञायक-सम्बन्ध है। वस्त्र धारण करनेका राग होने पर भी यदि मुनित्व माने तो उस जीवके सम्यक्‌दर्शन भी नहीं होता। मुनिदशाका और निर्ग्रंथताका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु मुनिदशाका और वस्त्रका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र परसे ममत्व हट जानेके पश्चात् वस्त्र धारण करनेकी बुद्धि हो ऐसा हो ही नहीं सकता। वस्त्र त्याग करनेकी क्रिया आत्माकी नहीं है, वस्त्र तो स्वतः उनके अपने कारणसे छूटते हैं। किन्तु वस्त्रका राग छोड़ने पर बाह्यमें बुद्धिपूर्वक वस्त्रका संग होता ही नहीं, ऐसा नियम है। मुनिदशामें विकल्प उठे उस समय शास्त्र इत्यादि आलम्बन होता है, किन्तु उनका भी आग्रह नहीं होता; फिर वस्त्र धारण करनेका राग तो अशुभभाव है, वह तो मुनिदशामें होता ही नहीं। वास्तवमें शास्त्र तो वीतरागभावका निमित्त है, जब साक्षात् वीतरागभाव रागभावमें लीनता नहीं होती और विकल्प उठता है, उस समय अशुभभावसे बचकर जितना वीतरागभाव स्थिर रखता है, उतना ही परमार्थसे आकिंचन्य धर्म है, उस समयके शुभरागको उपचारसे आकिंचन्यधर्म कहा जाता है। जिसे शुभरागका ममत्व है उसके तो मात्र अधर्म है। रागका ममत्व छोड़कर रागरहित स्वभावके श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही धर्म होता है।

कोई स्वच्छंदी जीव ऐसा कहे कि :–जैसे मुनिओंको शरीरके प्रति ममत्व न होने पर भी शरीर होता है, वैसे ही हमारे अन्तरंगमें ब्रह्मचर्यका भाव प्रवर्तमान है तथापि बाह्यमें स्त्रीका संग हो तो क्या विरोध है? उसकी बात बिल्कुल विपरीत है। शरीर तो आयुकर्मके कारण ममत्व-रहित भी हो सकता है, किन्तु स्त्रीसंग अब्रह्मचर्यरूप पापभावके बिना नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्यभाव हो और स्त्रीसंगकी बुद्धि हो–ऐसा नहीं होता। जो शरीर और शास्त्रके प्रति ममत्व करे उस मुनिके भी जिन-आज्ञाका भंग है। मुनिका अर्थ है अत्यन्त निस्पृह वीतरागता; मुनि आकाशकी भांति निरावलम्बी वृत्ति-वाले होते हैं। एकबार आहार लेते हैं, वह भी शरीरके ममत्वके कारण नहीं

શ્રી દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

लेते; किन्तु संयमके निर्वाहकी वृत्तिसे लेते हैं। आहार लेनेको जाते हुए यदि आहारमें दोषका विकल्प उठे तो अन्तराय जानकर, आहारकी वृत्तिको तोड़कर किंचिच्मात्र खेदके बिना लौट जाते हैं, और पश्चात् आत्मानुभवमें लीन हो जाते हैं। इसप्रकार शरीरसे भी अत्यन्त विरक्ति होती है, और अपने स्वभावमें वीतरागताका मंथन करते हैं। ऐसे मुनिओंके उत्तम आकिंचन्य धर्म होता है, वह मोक्षका कारण है।

यहाँ उत्तम आकिंचन्य धर्मका व्याख्यान पूर्ण हुआ।

સહજ ચિદાનંદ

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

१०–उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

(भाद्रपद शुक्ला–१४)

आज दशलक्षण पर्वका अन्तिम दिन है। आज उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मका दिन माना जाता है। 'ब्रह्म' का अर्थ है आत्माका स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और परके संगसे रहित आत्मस्वभाव कैसा है–वह जाने बिना उत्तम ब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिक ब्रह्मचर्य शुभराग है, धर्म नहीं है और उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है राग नहीं है। शुद्ध आत्मस्वभावकी रुचिके बिना विषयोंकी रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा मेरे ही स्वभावमेंसे प्रगट होती है, उससे प्रगट होनेमें मुझे किसीकी अपेक्षा नहीं है–ऐसी परसे भिन्न स्वभावकी दृष्टि हुए बिना विषयोंकी रुचि नहीं छूटती। बाह्यमें विषयोंका त्याग कर दे, किन्तु अन्तरंगसे विषयोंकी रुचि दूर न करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। स्त्री, घरबार छोड़कर त्यागी हो जाए, अशुभभाव छोड़कर शुभ करे, किन्तु उस शुभभावमें जिसे रुचि एवं धर्मबुद्धि है उसके वास्तवमें विषयोंकी रुचि दूर नहीं हुई। शुभ अथवा अशुभ विकार परिणामोंमें एकताबुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है, और विकाररहित शुद्ध आत्मामें परिणामकी एकता ही ब्रह्मपरिणति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्य धर्म है।

यहाँ पर सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनिकी चारित्रदशाके ब्रह्मचर्यकी बात है। जगतके सर्व विषयोंसे उदासीन होकर आत्मस्वभावमें चर्या प्रगट हुई–वह ब्रह्मचर्य है और उसके फलस्वरूप उनको परमात्मपद अवश्य मिलेगा ही। स्वभावमें एकता की, और परसे निरपेक्ष हुआ–वहाँ जो वीतरागभाव प्रगट हुआ वह ब्रह्मचर्य धर्म है। यहाँ पर श्री पद्मनन्दि मुनिराज ब्रह्मचर्य धर्मका वर्णन करते हैं :—

(स्रग्धरा)

यत्संगाधारमेतच्चलित लघु च यत्तीक्षणदुःखौघ धारं,
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रान्ति संसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमति; शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम्॥१०४॥

इस श्लोकमें 'अमलमति' शब्द पर भार है। अमलमतिका अर्थ है पवित्रज्ञान–सम्यग्ज्ञान। जिनके सम्यग्ज्ञान हुआ है–ऐसे आत्मा कदापि स्त्री आदिमें सुखबुद्धि नहीं करें। आत्मामें एकाग्र रहनेवाले मुमुक्षु और मुनिजन कभी भी स्त्रीका संग-परिचय न करें। स्त्री आदि विषयोंमें सुखबुद्धि करनेसे जीव संसारमें परिभ्रमण करता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि–जैसे कुम्हारके चाकका आधार कीली है और उस चाक पर रखे हुए मिट्टीके पिण्डके अनेक आकार बनते हैं–ऐसे ही इस संसाररूपी चाकका आधार स्त्री है और अनेक प्रकारके विकार करके जीव चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है। जो मोक्षाभिलाषी जीव सम्यग्ज्ञानपूर्वक विषयोंकी रुचि छोड़कर उन स्त्रियोंको माता, बहिन, पुत्रीके समान मानता है उसके ही उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मका पालन होता है। जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है और मोह शान्त हो गया है–ऐसे ब्रह्मचारी आत्माओंको कदापि स्त्रीसंग नहीं करना चाहिए।

उपदेशमें जहाँ निमित्तकी मुख्यतासे वचन आयें, वहाँ उनका सच्चा भावार्थ समझ लेना चाहिए। यहाँ पर स्त्रीको संसारका आधार कहा है वह निमित्तकी अपेक्षासे है। वास्तवमें कहीं स्त्री, जीवको परिभ्रमण नहीं कराती, किन्तु अपने स्वभावसे हटकर स्त्रीकी सुन्दरतामें और विषयमें जीवको रुचि हुई–वह मिथ्यापरिणति है तथा वही संसारका आधार है। स्वभावकी अपेक्षा एवं परकी उपेक्षा सो ब्रह्मचर्य है, और वह मोक्षका आधार है। सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके पहले भी जिज्ञासु जीवोंको विषयोंकी मिठास छूटकर ब्रह्मचर्यका प्रेम होता है। जिसके अन्तरमें विषयोंकी मिठास भरी है उस जीवके चैतन्यतत्त्वकी प्रीति नहीं है। चैतन्यका सहजानन्द विषयरहित है। उस सहज-आनन्दमय चैतन्यस्वरूपकी रुचि छूटकर इन्द्रानी आदिकी ओरके

रागमें मिठास आती है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। निमित्तोंकी उपेक्षा करके स्वभावमें एकता करना सो ब्रह्मचर्य है, वह मुक्तिका कारण है; और आत्माकी निमित्तोंकी अपेक्षा है–ऐसी पराश्रितदृष्टि विषय है, वह संसारका कारण है।

आत्मस्वभावकी प्रतीतिके बिना स्त्रीको छोड़कर यदि ब्रह्मचर्य पाले तो वह पुण्यका कारण है, किन्तु वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, और उसमें कल्याण नहीं होता। विषयोंमें सुखबुद्धि अथवा निमित्तकी अपेक्षाका उत्साह संसारका कारण है। यहाँ पर जिस प्रकार पुरुषके लिए स्त्रीको संसारका कारणरूप कहा है, उसीप्रकार स्त्रियोंको भी पुरुषकी रुचि सो संसारका कारण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि जगतमें स्त्री न होती तो यह संसार भी न होता; अर्थात् जीवकी दृष्टि यदि स्त्री आदि निमित्तों पर न होती तो उसकी दृष्टि स्वभाव पर होती, और स्वभावदृष्टि होती तो संसार न होता। स्वभावदृष्टिसे स्वभावका आनन्द प्रगट हुए बिना नहीं रहता। स्वभावदृष्टिको छोड़कर मिथ्यात्वसे स्त्री आदिमें सुख माना–तब स्त्रीको संसारका कारण कहा गया। स्त्री आदि निमित्तके आश्रयसे राग करके ऐसा माने कि 'इसमें क्या अड़चन है?' अथवा 'इससे सुख है'—ऐसा माननेवाला जीव स्वभावका आश्रय चूककर संसारमें भ्रमण करता है। आत्माका शुद्ध उपादान स्वभाव तो परम-आनन्दका कारण है; किन्तु उसे भूलकर निमित्तका आश्रय किया–इससे उस निमित्तको संसारका कारण कहा है। यह क्षणिक संसारभाव जीवके स्वभावके आधारसे नहीं होता, किन्तु निमित्तके आधारसे होता है—ऐसा बतानेके लिए स्त्रीको संसारका आधार कहा है। जैसे छोटीसी कीलीके धार पर चाक घूमता है वैसे ही अपनी परिणतिकी गहराईमें पराश्रयमें सुख मानता है, उस मान्यतारूपी धुरीके ऊपर जीव अनन्त प्रकारके संसारमें भ्रमण करता है, जीवके संसारचक्रकी धुरी मिथ्यात्व है।

श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि :—

''इस समस्त संसारकी रमणी नायकरूप,
वो तजते सब ही तजा, केवल शोकस्वरूप''

यह बात निमित्तकी अपेक्षासे है। वास्तवमें स्त्री संसारका कारण नहीं है। पूर्व भवोंमें अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु होकर स्त्रीका संग छोड़ा और ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया तथापि कल्याण नहीं हुआ। अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर निमित्तका-पुण्यका-व्यवहारका आश्रय माना वही मैथुन है। पुण्य-पाप भावोंकी रुचि ही महान भोग है। उसके बाह्यमें कदाचित् संयोग न दिखलाई दे, किन्तु अन्तरंगमें तो प्रतिक्षण विकारका ही उपभोग करता है।

पूर्ण वीतरागी ब्रह्मचर्य दशा पुरुषको ही हो सकती है, इससे पुरुषकी मुख्यतासे कथन है। स्त्रीको पाँचवें गुणस्थानपर्यन्तकी दशा होती है, विशेष उच्चदशा नहीं होती, पंचपरमेष्ठी पदमें उसका स्थान नहीं है; इससे शास्त्रोंमें उसकी बात मुख्यरूपसे नहीं आती, किन्तु गौणरूपसे उसकी भूमिकाके अनुसार समझना चाहिए। स्त्रीके लिए पुरुषके संगकी रुचि सो संसारका कारण है।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्यकी नव वाड़ कही है, वह नव वाड़ उस प्रकारके रागसे बचनेके लिए है, किन्तु परद्रव्य हानि करता है—ऐसा बतलानेके लिए नहीं कही है। 'अपने भाव शुद्ध है और परद्रव्य हानि नहीं पहुँचाते, इसलिए वाड़ तोड़नेमें क्या आपत्ति है? स्त्री आदिके परिचयमें क्या अड़चन है?—ऐसे कुतर्कसे यदि रुचिपूर्वक ब्रह्मचर्यकी वाड़ तोड़े तो वह जीव जिनाज्ञाका भंग करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। 'परद्रव्य हानि नहीं करते, इसलिए ब्रह्मचर्यकी वाड़को तोड़नेमें क्या बाधा?' अर्थात् स्वद्रव्यका अवलम्बन छोड़कर परद्रव्यका अनुसरण करनेमें बाधा क्या है?—ऐसी बुद्धिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। हे स्वच्छन्दी! परद्रव्य हानि नहीं करते, यह बात तो ऐसी ही है, किन्तु यह जाननेका प्रयोजन तो परद्रव्यसे विमुख होकर स्वभावमें सन्मुख होना था या स्वच्छन्दरूपसे परद्रव्योंके अनुसरण करनेका? जैसे परद्रव्य हानि नहीं करते वैसे ही परद्रव्यसे तुझे लाभ भी

नहीं होता—ऐसा समझनेवालेको परके संगकी भावना ही कैसे होगी? परसे हानि नहीं है, इसलिए परका संग करनेमें बाधा नहीं है—ऐसी जिसकी भावना है वह जीव स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है, वह तत्त्वको नहीं समझा। जो तत्त्वज्ञान वीतरागताका पोषक है उस तत्त्वज्ञानकी ओटमें स्वच्छन्दी जीव अपने रागका पोषण करता है, उसे कभी भी यथार्थ तत्त्वज्ञान परिणमित नहीं होता। 'अहो! मेरे आत्माको परसे कुछ भी लाभ-हानि नहीं है,—ऐसा समझनेसे तो परकी भावना छूटकर स्वभावकी भावना होती है। उसके बदलेमें जिसको स्वभावकी भावना न हुई, किन्तु परके संगकी रुचि हुई–वह मिथ्यादृष्टि है, वीतरागमार्गसे भ्रष्ट है, उसने विकारको विघ्नकारक नहीं माना। पहले तो स्त्री आदिके संगसे पाप मानकर भयभीत रहता था, और अब परसे हानि नहीं है—ऐसा मानकर उलटा निःशंकरूपसे रागके प्रसंगोंमें युक्त होकर स्वच्छन्दताका पोषण करता है, ऐसे जीवको विकार और स्वभावका भेदज्ञान करनेकी महिमा नहीं है। उसमें सत्‌को समझने एवं सुननेकी भी पात्रता नहीं है। ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभावके भानपूर्वक जो नव वाड़ है वह उस प्रकारके अशुभरागका अभाव बतलाती है। ब्रह्मचारी जीवके वैसा अशुभराग सहज नष्ट हो गया है। ब्रह्मचारी हो और स्त्रीके परिचयका भाव आये–ऐसा नहीं होता। यदि कोई जीव ब्रह्मचर्यकी वाड़को तोड़कर स्त्रीका संग-परिचय करे, उसके साथ एकान्तवास करे तथापि ऐसा कहे कि 'मैं तो ब्रह्मचर्यकी परीक्षा करता हूँ'। तो ऐसा जीव पराश्रयकी रुचिमें संसारमें भ्रमण करेगा। हे भाई! तुझे स्त्रीका परिचय करनेकी आकांक्षा हुई, वहीं पर तेरी परीक्षा हो गई कि तुझे ब्रह्मचर्यका यथार्थ रंग नहीं है। तुझे यदि परीक्षा करना है तो स्वभावके आश्रयसे कितना वीतरागभाव स्थिर होता है—उस परसे परीक्षा कर।

यहाँ पर तो मुनिओंके सम्यग्दर्शनपूर्वक कैसा उत्तम ब्रह्मचर्य होता है उसकी उत्कृष्ट बात है। वास्तवमें तो वीतरागभाव ही धर्म है, किन्तु उसके पूर्व निमित्तरूसे ब्रह्मचर्यका शुभराग था। उसे छोड़कर वीतरागभाव हुआ—ऐसा बतलानेके लिए उस वीतरागभावको उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म कहा है। मुनिराजके जब शुद्धोपयोगमें रमणता न रहे और विकल्प उठे तब वे

ब्रह्मचर्यादि पंचमहाव्रत; पालते हैं उस समय कदाचित् स्त्रीकी ओर लक्ष्य जाये तो अशुभवृत्ति न होकर उसके प्रति माता बहिन अथवा पुत्रीके संतान विकल्प होता है और उस शुभ विकल्पका भी निषेध प्रवर्तमान रहता है। इससे वहाँ पर भी उत्तम ब्रह्मचर्य है। स्त्री आदिके परलक्षसे जो शुभविकल्प उठा है वह तो राग है, वह परमार्थसे ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु त्रैकालिक शुद्धस्वभावकी रुचिके बलसे वह स्त्री आदिकी ओरके विकल्पकी रुचिको मिटाता हुआ विकल्प हुआ है इससे उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। और उस विकल्पको भी छेदकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट करना सो परमार्थसे उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है, वह केवलज्ञानका साक्षात् कारण है।

जिसने स्वभावदृष्टिको तोड़कर स्त्रीमें ही सुख माना है उसे अनन्त-संसारमें भ्रमण होता है, और उसके लिए स्त्री ही संसारका कारण है–ऐसा कहा जाता है। भरत चक्रवर्ती गृहस्थदशामें क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे और हजारों रानियाँ थी, तथापि उनमें स्वप्नमें भी सुखकी मान्यता नहीं थी; उसीप्रकार उनमें जो राग था उसे भी अपना स्वरूप नहीं मानते थे। इससे स्वभावदृष्टिके बलसे उस रागको छेदकर त्यागी होकर उसी भवमें केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध है–ऐसी जो दो पदार्थोंके सम्बन्धीकी बुद्धि है वह व्यभिचारिणी बुद्धि है; वह मिथ्यात्व है, वही अब्रह्मचर्य है और वही वास्तवमें संसार-परिभ्रमणका आधार है। जिसे एक भी अन्य द्रव्यके साथ सम्बन्धकी वृत्ति है उसे वास्तवमें समस्त पदार्थोंमें एकत्वबुद्धि है, उसे भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञानके बिना ब्रह्मचर्य धर्म नहीं होता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि स्व-परका भेदज्ञान करके स्त्री आदिमें किंचित् भी सुख नहीं है—ऐसा मानकर ब्रह्मचारी-सन्त एवं मुमुक्षुओंको स्त्री आदिके सन्मुख नहीं देखना चाहिए, उनका परिचय, संग नहीं करना चाहिए; सर्व परद्रव्योंके ओरकी वृत्तिको तोड़कर स्वभावमें स्थिरताका अभ्यास करना चाहिए।

अब, आचार्यदेव वीतरागी ब्रह्मचारी पुरुषोंकी महिमा बतलाते हैं :—

(मालिनी)

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्या
हृदिविरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंध्री
प्रतिदिनमतिनमास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति।।१०५।।

आचार्यदेव पुण्य और पवित्रताको भिन्न करके समझाते हैं। इस संसारमें जिनके ऐसा सुन्दर रूपादि है कि जिसे स्त्रियाँ चाहें, वे पुण्यवंत हैं; किन्तु ऐसे पुण्यवंत इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि भी, जिनके हृदयमें स्त्री सम्बन्धी किंचित्मात्र विकल्प नहीं है–ऐसे वीतरागी सन्तोंके चरणमें मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इसलिए पुण्यकी अपेक्षा पवित्रता ही श्रेष्ठ है। इससे जीवोंको पुण्यकी और उसके फलकी-स्त्री आदिकी रुचिमें न रुककर आत्माके वीतरागी स्वभावकी रुचि एवं महिमा करना चाहिए।

जिस पुरुषका शरीर रूपवान है उसका स्त्रीके हृदयमें वास है, वह पुण्यवंत है, किन्तु ऐसे पुण्यवंत भी पवित्रताके पास नतमस्तक हो जाते हैं। जिनके हृदयमें स्वप्नमें भी स्त्रियाँ वास नहीं करती, स्त्री-सम्बन्धी विकल्प भी जिनके नहीं है, अर्थात् आत्मभावपूर्वक स्त्री आदिका राग छोड़कर जो वीतरागी मुनि हुए हैं वे ही पुरुष जगतमें धन्य हैं। जिन्हें स्त्रियाँ चाहती हैं– ऐसे इन्द्र और चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी उन पवित्र पुरुषोंको नमस्कार करते हैं, उनका स्तवन करते हैं जिनके हृदयमेंसे स्त्रियोंका वास हट गया है। स्त्रियां पुण्यवंतको चाहती हैं और पुण्यवंत धर्मात्मा सन्तको नमस्कार करते हैं; इसलिए पुण्यकी अपेक्षा पवित्रताका-धर्मका पुरुषार्थ उच्च है।

इन्द्राणी इन्द्रको चाहती है, पद्मिनी स्त्री (स्त्रीरत्न) चक्रवर्तीको चाहती है–इसप्रकार स्त्रियां पुण्यवंतको चाहती हैं, और पुण्यवन्तको जगतके जीव श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु वे चक्रवर्ती आदि पुण्यवन्त पुरुष भी मुनिराज आदि पवित्र पुरुषोंको नतमस्तक होते हैं, इसलिए पवित्रता ही श्रेष्ठ है, पवित्रता चाहने योग्य है; पुण्य नहीं।

पूर्वका पुण्य श्रेष्ठ है, या वर्तमानमें स्वभावका आश्रय करके पुण्यका विकल्प तोड़ दिया है वह श्रेष्ठ है? यहाँ पर आचार्यदेव ऐसा बतलाते हैं कि जिसने आत्मस्वभावका आश्रय करनेका पुरुषार्थ किया है वह श्रेष्ठता नहीं है, वह आदरणीय नहीं है। पूर्वपुण्यके फलस्वरूप स्त्री आदिकी प्राप्ति हुई उनके रागमें रुकना अच्छा नहीं है, किन्तु पुण्यको तृणतुल्य जानकर तथा स्त्रीके प्रति रागको छोड़कर स्वभावके आश्रयसे वीतरागता प्रगट करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए हे जीव! स्त्री आदि संयोगोंकी, वैसे ही पुण्यकी प्रशंसा छोड़कर स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रताका पुरुषार्थ कर, वह धर्म है।

चैतन्यरूपी जहाजमें चढ़कर जो संसार-समुद्रका पार पा रहे हैं—ऐसे सन्तोंके चरणोंमें इन्द्र-चक्रवर्ती भी मस्तक झुकाते हैं, उन सन्तोंके स्वभावकी लीनतासे परकी ओरका राग ही नष्ट हो गया है; उसीका नाम उत्तम ब्रह्मचर्य है। परलक्षसे ब्रह्मचर्यका शुभभाव तो पुण्यबन्धका कारण है, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है।

पुण्य और उसका फल तो नाशवान हैं और वर्तमानमें भी आकुलता-दुःखके कारण हैं। पुण्यरहित आत्मस्वभाव ध्रुव है, उसके आश्रयसे जो ब्रह्मचर्य प्रगट हुआ वही प्रशंसनीय है, पुण्य प्रशंसनीय नहीं है। जो ब्रह्मानन्द-आत्माके ज्ञानस्वरूपका आनन्द है, उसका सेवन करके मुनिजन मोक्षलक्ष्मीरूपी स्त्रीकी साधना करते हैं। पुण्यवंतके तो जितने समय तक पुण्य रहेगा उतने ही समय तक वह स्त्रीको प्रिय लगेगा, किन्तु चैतन्यके आश्रयसे जिसने ब्रह्मचर्य प्रगट किया है, उसे सदैव मोक्षरूपी स्त्रीकी प्राप्ति रहती है और इन्द्रादिक सर्वोत्तम जीव भी उसे नमस्कार करते हैं। इसलिए वही भव्यजीवोंको आदरणीय है। आत्मस्वभावमें सुख है तथा स्त्री आदि किसी भी विषयमें सुख नहीं है–प्रथम ही ऐसी यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान करना सो धर्म है।

यहाँ पर उत्तमक्षमादि दस धर्मोंका वर्णन करके आचार्यदेव अब उन धर्मोंकी महिमा बतलाते हैं :—

(स्रग्धरा)

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारु निश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमिष्येतु केषाम्
नोधर्मेषुत्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयभानेषुदृष्टिः॥१०६॥

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–जो त्रिलोकके स्वामी इन्द्रोंसे भी वन्दनीक हैं–ऐसे इन दस उत्तम धर्मोंको धारण करनेमें किसे हर्ष न होगा? समस्त मोक्षार्थी जीव उसका पालन सहर्ष करते हैं। यह दस धर्म मुनिदशामें होते हैं। मुनिदशा मोक्षमहलकी सीढ़ी है, उसके एक ओर वैराग्यरूपी और दूसरी ओर त्यागरूपी सुन्दर-सुदृढ़ काष्ठ लगे हुए हैं तथा दस धर्मरूपी दस विशाल सीढ़ियाँ हैं। मोक्षमहलमें चढ़नेकी भावनावाले पुरुषोंको ऐसी सीढ़ियाँ चढ़ने योग्य हैं। अर्थात् इन दस धर्मोंका पालन करनेसे जीव मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे उत्तम दस धर्मोंके प्रति किस मोक्षार्थीको उल्लास न होगा?

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! वीतरागी दस धर्मोंका ऐसा सुन्दर वर्णन सुनकर किसे व्रतादिकी भावना जागृत नहीं होगी? रागरहित चैतन्यस्वभावके आश्रयकी भावना किसे नहीं होगी? आचार्यदेव स्वतः सावधानीपूर्वक दस धर्मोंका पालन करते हैं इससे कहते हैं कि इन दस धर्मोंको सुनकर समस्त संसारको हर्ष होगा। सभी जीवोंको यह धर्म सुननेसे निश्चल सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तम त्याग-वैराग्यादिकी आकाँक्षा होगी। ऐसे माँगलिकपूर्वक यह अधिकार पूर्ण होता है।

दसलक्षण धर्मके व्याख्यान पूर्ण हुए।

धर्मका स्वरूप

''दंसण मूलो धम्मो''–धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यक्‌दर्शन ही प्रथम धर्म है और आत्माके ज्ञान-चारित्रादि समस्त धर्मोंका मूल है। सम्यग्दर्शनके बिना भगवानने धर्म नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन इस जगत्‌में सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु है। उसकी महिमा अपूर्व है।

हे भव्य! अनन्तकालमें आत्मस्वरूप समझनेका अवसर आया है, यदि सम्यग्दर्शनके द्वारा यथार्थ नहीं समझा तो कोई तुझे शरणभूत नहीं है। पुण्य-पापरहित चैतन्यस्वभावकी प्रतीतिके बिना तेरे त्यागादि सब व्यर्थ हैं, उनसे संसारके दुःखोंका अन्त नहीं आयेगा।

आत्मस्वभावकी यथावत् प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्मोंका मूल है। वस्तुस्वभावकी प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीवके अहिंसा, सत्य इत्यादि धर्म कदापि नहीं हो सकते, किन्तु अज्ञानतासे मिथ्यात्वरूप महाहिंसा एवं असत्यका ही निरंतर सेवन होता है। आत्माको समझे बिना जो लौकिक सत्य है वह भी परमार्थसे हिंसा ही है। परजीवोंका मैं कुछ कर सकता हूँ–ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही सर्व पापोंका मूल है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं होता उसके अन्य कोई भी धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञदेवके उपदेशित धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञदेवकी परम्परासे जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्मके स्वरूपका यथार्थ निरूपण है; तथा निश्चय और व्यवहार–ऐसे दो प्रकारसे धर्मका कथन किया है; धर्मकी प्ररूपणा चार प्रकारसे है :— (१) वस्तुस्वभावरूप धर्म, (२) उत्तमक्षमादिक दस प्रकार धर्म, (३) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और (४) जीवरक्षारूप धर्म। यदि वहाँ निश्चयसे विचार किया जाये

तो इन चारों प्रकारोंमें शुद्ध चेतनारूप धर्म एक ही प्रकारका है, वह समझाया जा रहा है :—

(१) **वस्तुस्वभाव सो धर्म** :—जो दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है वह जीववस्तुका परमार्थस्वभाव है, जब उस चेतनाका परिणाम सर्व विकाररहित शुद्धचेतनारूप परिणमित हों तब वह धर्म है। इसप्रकार वस्तुका स्वभाव सो धर्म–ऐसा कहनेसे शुद्धचेतनारूप धर्म सिद्ध होता है।

यहाँ पर शुद्धचेतना परिणामको ही धर्म कहा है। जितनी परजीवकी दया, दान, पूजा, व्रत, भक्तिकी शुभ अथवा हिंसादिकी अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं; वह सब निश्चयसे अधर्मभाव है। देहादिकी क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता, किन्तु शुभपरिणाम करे वह भी धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्धचेतनामय है, इससे पुण्य-पापके भाव होते हैं वह मेरा कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु उन विकारभावोंका भी मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञाता-दृष्टापना ही मेरा स्वरूप है–ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञान-दर्शनमय चेतनाकी जो शुद्धपर्याय है वही 'धर्म' है। धर्म द्रव्य अथवा गुण नहीं, किन्तु शुद्ध पर्याय है। धर्मके चार प्रकारके कथनमें शुद्धपर्यायका वास्तवमें एक ही प्रकार है। जितने अंशमें चेतना निर्विकल्परूपसे परिणमित हो उतने अंशमें धर्म है और जितने अंशमें पुण्य-पापके विकाररूप परिणमित हो उतना ही अधर्म है। जो शरीरकी क्रियामें धर्म माने वह तो बिलकुल बहिर्दृष्टि है—मिथ्यादृष्टि है। यहाँ पर तो पुण्यमें धर्म माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य और पाप देहकी क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता–दृष्टापन ही मेरा वास्तविक स्वरूप है—ऐसा जाननेवाले ज्ञानीके भी निम्नदशामें पुण्य-पापके परिणाम होते अवश्य हैं, किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि पुण्य-पापके विकारसे रहित शुद्धचेतनाकी परिणतिमें जितनी स्थिरता करे उतना ही धर्म है, और चेतनकी उन्मुखता जितनी बहिर्मुख हो–वह सब अधर्मभाव है, अतः हेय है। जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वही धर्म है। वास्तवमें तो धर्म पर्याय है, किन्तु शुद्धपर्यायका द्रव्यके साथ अभेदत्व होनेसे अभेदरूपसे वस्तुके स्वभावको ही धर्म कहा है। प्रथम पुण्य-पापरहित स्वभावकी प्रतीति होने

पर जब सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है, तब चेतनाके परिणाम अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध होते हैं। ज्ञानी शुद्ध परिणाममें ही धर्म समझते हैं, इससे वे अशुद्ध परिणामका स्वभावमें स्वीकार नहीं करते; इसीसे पुण्य-पापरहित स्वभावकी स्थिरता द्वारा क्रमशः चारित्रकी पूर्णता करते हैं। जब पूर्ण शुद्ध चेतना परिणाम प्रगट होते हैं उस समय केवलज्ञान प्रगट होता है और पुण्य-पापका अभाव होता है।

''शुद्धचेतनारूप धर्म'' कहनेसे ही यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान-दर्शनके अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान-दर्शनके अतिरिक्त दूसरा जो कुछ कर्तव्य मानता है, वह अधर्मभाव है।

मात्र ज्ञान-दर्शनमय स्वभावको माना उसमें परका करनेकी बात ही कहां आई ? अरे, ज्ञानमें शुभविकल्प भी कहाँ आया ? चेतनाका स्वभाव ही विकल्परहित ज्ञाता-दृष्टा है, और वह विकाररहित चेतना ही धर्म है।

(२) **उत्तमक्षमादि दस प्रकारके धर्म** :—आत्मा क्रोधादि कषायरूप परिणमित न हो और अपने स्वभावमें स्थिर रहे, वही उत्तमक्षमादिरूप धर्म है; इसप्रकार उत्तमक्षमादिरूप धर्म कहनेसे भी शुद्धचेतनाके परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें चेतनाके परिणामोंको पुण्य-पापसे छुड़ाकर ज्ञानस्वभावमें ही स्थिर करना कहा। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञानमें कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञानके लिए कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, दुर्जन या सज्जन नहीं है-ऐसे भानपूर्वक स्वरूपकी स्थिरता हो वही उत्तमक्षमा हो सकती है। 'अपनेको सहन करना सीखना चाहिए'-इसप्रकार परद्रव्योंको सहन करना माने और स्वभावके भान बिना क्षमा रखे-वह उत्तमक्षमा नहीं है। मेरा स्वभाव जाननेका है, मेरा ज्ञान सर्व पदार्थोंको समरूपसे जाननेवाला है, जाननेमें ऐसी वृत्ति करना कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है'—वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है। ऐसे भानपूर्वक मान-अपमानकी वृत्तिको तोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना ही शुद्धचेतनारूप धर्म है। यहाँ पर मुख्यतः मुनिके लक्षसे बात की है, तथापि सम्यग्दृष्टिके भी अंशतः शुद्धचेतना होती है, प्रतीतिरूपसे उनके समस्त द्रव्योंके प्रति

क्षमा प्रवर्तमान है। परलक्षसे क्रोध या क्षमाकी अल्पवृत्ति हो जाये उसे ज्ञानी अपने स्वभावमें स्वीकार नहीं करते, इससे उनके निरन्तर अंशतः उत्तमक्षमारूप धर्म प्रवर्तमान रहता है। आत्मस्वभावके भान बिना द्रव्यलिंगी जैन निर्ग्रंथ मुनि हो और उसके शरीरको जीवित जला डाले तब भी क्रोधकी वृत्ति न करे तथापि उसके उत्तमक्षमा नहीं है, क्योंकि क्षमाकी शुभवृत्तिको वह अपना स्वरूप मानता है, किन्तु उसे शुद्धचेतना परिणामोंकी खबर नहीं है। शुभपरिणामोंसे भी शुद्धचेतना भिन्न है–ऐसे भान बिना धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानस्वरूपमें किसी भी रागका अंश नहीं है; अशुभ या शुभ दोनों प्रकारके रागरहित शुद्धचेतना ही धर्म है।

शुभभाव विकार हैं, उन्हें जो धर्ममें सहायक माने उसके मिथ्यात्वका महापाप है, पुण्यभावमें भी लोभ-कषायकी मुख्यता है, वह पुण्यभाव अशुद्ध चेतना है, शुद्ध चेतनारूप धर्म तो एक ही प्रकारका है, उसमें शुभाशुभ विकल्पोंको भी अवकाश नहीं है।

इसप्रकार वस्तुत्वरूप धर्म और उत्तमक्षमादिरूप धर्म–उन दोनोंमें शुद्धचेतनाके परिणामरूप एक ही प्रकार सिद्ध हुआ।

(३) **दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म** :—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र–इन तीनोंमें मात्र शुद्धचेतनाके ही परिणाम हैं, इससे दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें भी शुद्धचेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है। शुद्धज्ञान-चेतनामें पुण्य-पाप नहीं हैं, शरीरादिकी क्रिया नहीं है, मात्र शुद्धस्वभाव है वही धर्म है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहनेसे भी शुद्ध चैतन्यत्व सिद्ध हुआ।

(४) **जीवदयारूप धर्म** :–'जीवदया'के नामसे लोग शुभरागमें धर्म मान रहे हैं, किन्तु जीवदयाके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझते। क्रोधादि कषायोंके वश होकर अपनी, वैसे ही परजीवकी हिंसाका भाव न करना सो जीवदया है। सबसे महान क्रोध मिथ्यात्व है और वही वास्तविक जीवहिंसा है। मिथ्यात्वका त्याग किये बिना कभी भी जीवहिंसा नहीं रुक सकती। स्व-जीवकी हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है, और जब

स्वतः क्रोधादि द्वारा स्व–जीवकी हिंसा नहीं की तब क्रोधका अभाव होनेके कारण परजीवको मारनेका भाव भी न आया, इससे परजीवकी दया भी आ गई। किन्तु स्व-जीवकी दया कब हो सकती है? जो जीव पुण्यसे धर्म मानता है वह विकारभावके द्वारा स्वभावकी हिंसा करता है; मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पापरहित है–ऐसी पहिचान करनेके पश्चात् दयाकी शुभवृत्तिको भी छोड़कर स्वरूपमें स्थिर हो गया और शुद्ध ज्ञान-चेतनाके अनुभवमें लीन हुआ सो ही जीवदया धर्म है। इसलिए इसमें भी जो चेतनाके शुद्ध परिणाम हैं, वही धर्म है–ऐसा आया है। परजीवको वास्तवमें न तो मार सकता है न जीवित कर सकता है, मात्र भाव करता है। किसी जीवको दुःख न देना, उसमें स्वतः भी सम्मिलित है; अब स्वतः को भी दुःखी न करना सो यथार्थ दया है। अशुभ परिणामोंके समय स्वयं तीव्र दुःख होता है और दयादिके शुभपरिणामोंके समय भी जीवको आकुलताका ही वेदन होनेसे वह दुःखी है, इससे अशुभ और शुभ–दोनों भावोंसे जीवको बचाना अर्थात् मात्र शुभाशुभरहित ज्ञानस्वभावरूप दशा करना, उतनी ही जीवदया है। जो जीव शुद्धज्ञान-चेतना द्वारा स्वरूपमें एकाग्र हुआ, उस जीवके अशुभभाव होते ही नहीं, इसलिए यहाँ स्वयं ही परजीवकी दयाका पालन होता है।

यदि परजीवकी दया पालन करनेके शुभरागमें धर्म हो तो सिद्धदशामें भी परजीवको दयाका राग होना चाहिए? किन्तु शुभराग धर्म नहीं है; वह अधर्म है, हिंसा है।

प्रथम सम्यग्दर्शन द्वारा स्वभावको पहिचानने पर श्रद्धाकी अपेक्षासे अहिंसकत्व प्रगट होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पापके जो भाव होते हैं उन्हें अपना स्वभाव नहीं मानते; इसप्रकार मान्यतामें अपने स्वभावको पुण्य-पापसे बचाकर रखते हैं–इससे उनके सच्ची जीवदया है। अज्ञानी जीव अपनेको क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभावका नाश करता है, वही हिंसा है।

पुनश्च ''जीवदया''–ऐसा कहा जाता है। कहीं 'शरीरदया' नहीं

श्री દિગંબર જૈન સ્વાધ્યાયમંદિર ટ્રસ્ટ, સોનગઢ - ૩૬૪૨૫૦

कहा जाता; क्योंकि जो शरीर है वह जीव नहीं है। लोग शरीरकी क्रियासे माप करते हैं वह ठीक नहीं है। जीव तो शरीरसे भिन्न निरन्तर चैतन्यस्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरतामें ही स्थिर रखना और विकारमें न जाने देना सो जीवरक्षा है।

'परजीवकी रक्षा करूँ'—ऐसी दयाकी जो वृत्ति है सो भी परमार्थसे जीवहिंसा ही है–ऐसा प्रथम श्रद्धामें स्वीकार करना चाहिए और ऐसी मान्यता होनेके पश्चात् भी अस्थिरताके कारण शुभविकल्प आयें, किन्तु वह धर्म नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव जीवरक्षाके शुभभाव करता हो तब वह ऐसा मानता है कि मैं परजीवको बचा सकता हूँ, तथा इस शुभभावसे मुझे धर्म होगा। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव यदि युद्धादि कर रहा हो और उसके अशुभपरिणाम हों, किन्तु अंतरंगमें भान होता है कि यह युद्धकी–देहकी क्रिया मेरी नहीं है, अशुभभाव मेरे पुरुषार्थके दोषसे होते हैं उतनी हिंसा है, किन्तु वास्तवमें वह मेरा यथार्थ स्वरूप नहीं है। उस समय इन दोनों जीवोंमेंसे मिथ्यादृष्टि जीवके अनन्तहिंसा प्रवर्तमान है और सम्यग्दृष्टि जीवके अल्पहिंसा है। अरे ! श्रद्धाकी अपेक्षासे तो युद्धके समय भी वह अहिंसक है, क्योंकि उसके अंशतः शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान है। जितने अंशमें शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हो उतने अंशमें युद्धके समय भी जीवदया वर्त रही है। और मिथ्यादृष्टि जीवके किंचित् भी शुद्ध चेतनापरिणाम नहीं हैं, इससे उसे जीवरक्षाके भावके समय भी जीवहिंसा ही है, यह माप तो अन्तरंग शुद्ध चेतना परिणामोंसे है; शरीरकी क्रिया तो दूर रही, किन्तु पुण्य-पापके भावों परसे भी जीवदयारूपी धर्मका यथार्थ माप नहीं होता।

परमार्थ धर्म अर्थात् निश्चय धर्म–सच्चा धर्म तो एक ही प्रकारका है; फिर उसे जीवदया कहो अथवा वस्तुस्वभाव कहो; उसमें मात्र शुद्धचेतनापरिणाम ही धर्म है। 'शुद्ध चेतनाको धर्म कहते हैं और कभी-कभी शुभको भी धर्म कहते हैं'—ऐसा स्वरूप निश्चय धर्मका नहीं है। निश्चय धर्म तो एक ही प्रकारसे है।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

'मैं आत्मा कौन हूँ' उसके भान बिना शुद्धचेतना कहाँसे लायेगा ? बाह्यमें जीव मरें या जियें, उनकी संख्या परसे हिंसा अथवा दयाका वास्तविक माप नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने पर अहिंसाका प्रारम्भ होता है, तथापि सम्यग्दृष्टिके भी अस्थिरताके कारण जितनी वृत्ति उठे उतनी चारित्रकी हिंसा है; किन्तु जो आत्मभान प्रवर्तमान है उतनी जीवदया है। इसप्रकार साधकके अंशतः अहिंसा और अंशतः हिंसा–दोनों साथमें ही होती हैं। अज्ञानियोंके एकान्त जीवहिंसा ही है; वीतरागी ज्ञानीके सम्पूर्ण अहिंसा है। वस्तुस्वभावरूप जैनशासनमें त्रिकाल धर्मका ऐसा ही स्वरूप है।

अपने भावोंमें अनन्त परद्रव्योंका स्वामित्व–अभिमान न होने देना और अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको पुण्य-पापसे भिन्नरूप श्रद्धामें स्थिर रखना–ऐसी यथार्थ जीवदया है, उसका जगतको माहात्म्य नहीं है और शुभका माहात्म्य होता है। जिसने पुण्यके विकल्पसे अपनेको लाभ माना है उसने पुण्यको अपना स्वरूप ही माना है; क्योंकि जिसे अपना स्वरूप मानेगा उसीसे अपनेको लाभ मानता है; और जिस जीवने पुण्यको अपना स्वरूप माना उसने जगतके समस्त आत्माओंके स्वभावको भी पुण्यरूप माना। इसप्रकार जगतके समस्त आत्माओंको विकारी माना है–इससे उसने अपनी मान्यतामें विश्वके सर्व जीवोंकी हिंसा की है, यह महान जीवहिंसाका पाप जगतको ज्ञात नहीं होता।

हिंसादिके अशुभभाव करनेकी बात ही नहीं होती, अशुभभावोंमें तो तीव्र आकुलता है। किन्तु जो शुभभाव होते हैं उनमें भी आकुलता ही है। उन दोनों आकुलताओंमें हिंसा है; उससे रहित निराकुलता और ज्ञान-चेतनाका जितना अनुभव है उतनी ही जीवरक्षा है। अपने शुद्ध जीवपरिणामकी रक्षा करना, उसका हनन न होने देना सो ही शुद्ध चेतनापरिणामरूप धर्म है। शुद्ध चेतनापरिणामके बिना दया अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं क्षमा इत्यादि कोई धर्म सच्चा होता ही नहीं।

'परजीवको मैं बचा सकता हूँ और वैसा राग अपना कर्त्तव्य है'–

यह मान्यता मिथ्या है। परजीवके बचानेका भाव तो विकार है, क्या विकार करना आत्माका कर्त्तव्य है? ज्ञानी तो जानते हैं कि मात्र ज्ञातारूपसे स्वभावमें स्थिर रहना हमारा कर्त्तव्य है, जितना मैं अपने ज्ञातास्वभावरूपसे स्थिर रहूँ उतना धर्म है, और ज्ञातापनेके अतिरिक्त अन्य जिस वृत्तिका उत्थान होता है वह मेरा कर्त्तव्य नहीं है; इसप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टारूपसे अपने चैतन्यपरिणामको स्थिर रखता है, वही धर्म है।

वस्तुका स्वभाव सो धर्म, उत्तमक्षमादि दस प्रकार धर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और जीवरक्षा धर्म—इन चार प्रकारोंकी प्ररूपणामें शुद्ध चेतनापरिणाममय एक ही प्रकारका धर्म है—ऐसा बताया है। निश्चयधर्म एक ही प्रकारका है।

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

दसलक्षण धर्म (मूल गाथाऐं)

उत्तमखमद्दवज्जवसच्चसच्चउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि॥७०॥

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मो त्ति॥७१॥

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स॥७२॥

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण॥७३॥

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥७४॥

कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥७५॥

वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा॥७६॥

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स होदि णियमेण॥७७॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥७८॥

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सऽकिंचण्हं॥७९॥

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सक्कदि खलु दुद्धरं धरिदुं॥८०॥

श्री कार्तिकस्वामी प्रणीत

दसलक्षण धर्म (मूल गाथाऐं)

सो चेव दहपयारो खमादिभावेहिं सुक्खसारेहिं।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥३९३॥

कोहेण जो ण तप्पदि सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खमा णिम्मला होदि ॥३९४॥

उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयणं भवे तस्स ॥३९५॥

जो चिंतेइ ण वंकं कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥३९६॥

समसंतोसजलेण य, जो धोवदि तिह्ललोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सउच्चं हवे विमलं ॥३९७॥

जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो ॥३९८॥

जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकज्जेसु।
तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमधम्मो हवे तस्स ॥३९९॥

इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स ॥४००॥

जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स ॥४०१॥

तिविहेण जो विवज्जदि, चेयणमियरं च सव्वहा संगं।
लोयववहारविरदो, णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥४०२॥

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणियत्तो, णवहा बंभं हवे तस्स ॥४०३॥

जो णवि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खबाणविद्धो वि।
सो चेव सूरसूरो, रणसूरो णो हवे सूरो ॥४०४॥

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवदि धम्मो, हिंसा सुहुमा वि जत्थत्थि ॥४०५॥

रूडा पर्युषण दिन

[धर्मरत्न पूज्य बहेनश्री चंपाबेनना अंतरमांथी वहेली भावभीनी भक्ति]

रूडा पर्युषण दिन आज दीपता रे, श्री दशलक्षणाधिराज....रूडा.
आज रत्नत्रय दिन दीपता रे, सहु रत्नत्रय प्रगट करो आज....रूडा.
शुक्ल ध्याने जिनेश्वर लीन थया रे, एवी लीनता करवानो दिन आज..रूडा.
धर्मध्याने मुनिवरो राचता रे, भव्योने देखाडे ए राह....रूडा.
क्षमा निर्लोभता आदि अनंत गुणमां रे, रमी रह्या जिनेश्वरदेव....रूडा.
आ अष्टमी चतुर्दशी दिनमां रे, थया पुष्पदंत वासुपूज्य सिद्ध....रूडा.
एवा निर्मळ दिवस छे आजना रे, सहु निर्मळ करो आत्मदेव....रूडा.
प्रभु वीरे ए मार्ग बतावीयो रे, कुंदकुंदे रोप्या राजथंभ....रूडा.
कहान गुरुए कादवमांथी काढीया रे, चडाव्या ए राजमार्ग द्वार....रूडा.
सीमंधरना नाद कुंद लावीया रे, रणशींगा वगाड्यां भरतमांय....रूडा.
गुरु कहाने रणशींगा सांभळ्या रे, वगाडनार ए छे कोण....रूडा.
गुरु कहाने ए कुंदकुंद शोधीया रे, शोधी लीधो शासन थंभ....रूडा.
गुरु कहाने भरतने जगाडीयुं रे, जागो जागो ऊंघता अंध....रूडा.
गुरु कहाने चिदातम बतावीयो रे, रोप्या छे मुक्ति केरा थंभ....रूडा.
एवा शासनस्थंभ मारा नाथ छे रे, तेने जोई जोई अंतर उभराय....रूडा.
गुरुना हृदये जिनेश्वर वसी रह्या रे, गुरुना शिरे जिनेश्वरनो हाथ....रूडा.
प्रभु सेवक रत्नत्रय मागता रे, ए तो लळी लळी लागे पाय....रूडा.